मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास
गीताप्रेस
गोरखपुर

पहली बार ५२५० सं० १९८९

मूल्य ॥=)
दस आना
सजिल्द ॥।-)
तेरह आना

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

भक्त-मन चोर

जीवन-धन,

यह रूखा-सूखा तेरा नैवेद्य तेरे सामने रक्खा है, तू तो प्रेम-भक्तिका भूखा है, यदि तुझे इसमें कहीं प्रेमभक्तिकी तनिक-सी भी गन्ध मिल जाय तो पूरीकी आशा न रख इसे ग्रहण करके अपनी दयालुतासे इस अपने चरण-रजके आश्रित दीनको कृतार्थ कर !

—तेरा ही

निवेदन

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।

(गीता ५ । २९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'जो मुझको समस्त प्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित अहैतुक प्रेमी) जान लेता है वह शान्तिको—मोक्षको प्राप्त हो जाता है।' भगवान् जीवोंके परम सुहृद् हैं, स्वभावसे ही सबका हित करते हैं, इस बातको वास्तवमें हम लोग जानते नहीं। कहते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं, कभी-कभी बुद्धिमें भी यह बात आती है परन्तु मनने वस्तुतः इस तत्त्वको जाना और माना नहीं। यदि दुःखोंकी ज्वालासे जलता हुआ जीव परम सुखराशि सच्चिदानन्दघन परमात्माको अपना सुहृद् जान ले तो फिर वह अपने दुःखोंकी निवृत्तिके लिये जगत्के अन्यान्य उपायोंका अवलम्बन ही क्यों करे? एक मनुष्यको किसी वस्तुका अभाव है और उसे उस अभावको मिटानेकी बड़ी आवश्यकता है, तथा वह उसे मिटानेके लिये व्याकुल है; ऐसी स्थितिमें उसे यदि किसी ऐसे पुरुषका पता लग जाय जिसके पास उसके अभावको दूर करनेवाली वस्तु हो, जो उसको हृदयसे चाहता भी हो और साथ ही उसके अभावको भी उतना ही जानता और अनुभव करता हो, जितना कि वह

अभाववाला पुरुष करता है, तो फिर उसका अभाव दूर होनेमें देर क्यों होनी चाहिये ? उस पुरुषके पास जाते ही उसका अभाव मिट जायगा। यही स्थिति जीवकी और भगवान्‌की है। जीव भगवान्‌का सनातन अभिन्न अंश होनेपर भी आनन्द और शान्तिके अभावसे दुखी है, इसीलिये वह अनादिकालसे आनन्द और शान्तिकी खोजमें ही भटक रहा है परन्तु आनन्द और शान्तिके यथार्थ स्वरूप और उनके निवासस्थानको न जाननेके कारण बार-बार उसे निरानन्द और अशान्तिकी आगमें ही जलना पड़ता है एवं जबतक उसे आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति न होगी, तबतक उसकी यही दशा रहेगी। भगवान् आनन्द और शान्तिके अपार सागर हैं, वे जीवके परम प्रेमी हैं, क्योंकि वह उन्हींका अंश है तथा वे उसके अभावजन्य दुःखको भी जानते हैं, इसीलिये वे बारम्बार जीवको सावधान करते, प्रबोध देते और सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न करते हैं। सब जीवोंके प्रति समान प्रेम होनेपर भी, उनका यह नियम है कि जो उन्हें भजता है, उनकी शरण होता है, वे उसीकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हैं; इसीलिये वे कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

मैं समस्त प्राणियोंमें समान भावसे व्याप्त हूँ, मेरा न कोई अप्रिय है और न प्रिय, परन्तु जो लोग मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे (अपनेको) मुझमें (देखते) हैं और मैं (उन्हें) उनमें (दीखता) हूँ। भगवान्‌की कितनी अपार दयालुता है कि जो वे भूले हुए दुःखग्रस्त जीवोंको अपने मुँहसे अपना नियम और प्रभाव बतलाकर अपने शरणमें बुलाते हैं। जिस समय मनुष्य उनके आवाहनको यथार्थमें सुन लेता है, उसी दिन—उसी क्षण वह अभिसारिकाकी भाँति छूट निकलता है, फिर वह संसारके धन-जन-परिवारकी तनिक भी परवा नहीं करता। वह ऐसे परम धन, परम प्रियतम, समस्त सुख-शान्तिके सनातन और पूर्ण भण्डारकी ओर दौड़ता है कि उसे फिर पीछे फिरकर देखनेकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। वह तो जल्दी-से-जल्दी उस परम प्रियतमको पानेके लिये तन-मन और लोक-परलोककी बाजी लगाकर सारी विघ्न-बाधाओं-को लाँघता हुआ हवाके वेगसे चलता है, फिर कोई भी बाधा उसे रोक नहीं सकती। सारी प्रतिकूलताएँ उसके अनुकूल बन जाती हैं—वह भगवत्-मार्गका पथिक कभी न थकता है, न विराम लेता है, न घबड़ाता है, न निराश होता है; ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-ही-त्यों नये-नये उत्साह और प्रकाशको प्राप्त होता हुआ दूर-से-दूर स्थानको भी नज़दीक-से-नज़दीक समझकर चला ही जाता है। वास्तवमें उसे भगवान्-

की दयासे सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव भी करता है। भगवान्‌ने कहा है-

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५८)

मुझमें मन लगा देनेपर तू मेरी कृपासे समस्त बाधाओंके समुद्रोंसे अनायास ही तर जायगा। हम लोग जो पद-पदपर बाधा-विघ्नों और कराल क्लेशोंका सामना करते हैं, इसका कारण यही है कि हम भगवान्‌को परम समर्थ सुहृद् समझकर उनमें मन नहीं लगाते, उनके शरण नहीं होते। पूर्णरूपसे मन सौंप देने या शरणागत हो जानेवालोंके लिये तो भगवान्‌की आश्वासन वाणी है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

हे अर्जुन! मुझमें चित्तको प्रविष्ट करा देनेवाले उन भक्तों-को मृत्युरूप संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र मैं पार कर देता

हूँ। (इसलिये) सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा, मैं (स्वयं ही) तुझे सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर।

यह सारी बातें होते हुए भी हम उनकी शरण नहीं होते, इसका प्रधान कारण यही है कि हमें उनकी सर्वज्ञता, दयालुता, सर्वशक्तिमत्तापर विश्वास नहीं है, हम वस्तुतः उन्हें अपना परम सुहृद् नहीं जानते—इसी विश्वासकी कमीसे हम उन्हें न भजकर अन्य उपायोंसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति चाहते हैं और इसीलिये बारम्बार एक दुःखके राज्यसे दूसरे महान् दुःखके राज्यमें प्रवेश करते हुए दुःखमय बन रहे हैं।

इस छोटी-सी पुस्तिकामें भगवान्के महत्वको प्रकट करने तथा उनके प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है, इसीको बतलानेका किञ्चित् प्रयत्न किया गया है। यदि इसे पढ़कर किसी एक भी भाई-बहिनके हृदयमें भगवान्के प्रेम और उनके प्रति अपने कर्त्तव्यकी स्फूर्ति हुई तो मैं अपना बड़ा सौभाग्य समझूँगा।

विनीत—लेखक

॥ श्रीहरिः ॥

जा प्रभुके पद-पदुमकी प्रभा सकल संसार ।
तिनहिं निवेदन करहुँ किमि यह नैवेद्य असार ?

प्रार्थना

हे निर्गुण, हे सर्व गुणाश्रय, हे निरुपम, हे उपमामय !
हे अरूप, हे सर्वरूप-मय, हे शाश्वत, हे शान्ति-निलय !!
हे अज, आदि, अनादि, अनामय, हे अनन्त, हे अविनाशी !
हे सच्चित्-आनन्द-ज्ञान-घन, द्वैत-हीन घट-घट-वासी !!
हे शिव, साक्षी, शुद्ध, सनातन, सर्वरहित, हे सर्वाधार !
हे शुभ-मन्दिर, सुन्दर, हे शुचि, सौम्य, साम्यमति, रहित विकार !!
हे अन्तर्यामी, अन्तरतर, अमल, अचल, हे अकल, अपार !
हे निरीह हे नर-नारायण, नित्य, निरञ्जन, नव-सुकुमार !!
हे नव-नीरद-नील नराकृति, निराकार, हे नीराकार !
हे समदर्शी, सन्त-सुखाकर, हे लीलामय, प्रभु साकार !!
हे भूमा, हे विभु, त्रिभुवनपति, सुरपति, मायापति, भगवान !
हे अनाथपति, पतित-उधारन, जन-तारन, हे दयानिधान !!
हे दुर्बलकी शक्ति, निराश्रयके आश्रय, हे दीन-दयाल !
हे दानी, हे प्रणत-पाल, हे शरणागत-वत्सल, जन-पाल !!
हे केशव, हे करुणा-सागर, हे कोमल अति सुहृद महान !
करुणा कर अब उभय अभय चरणोंमें मुझे दीजिये स्थान !!
सुर-मुनि-वन्दित, कमलानन्दित, चरण-धूलि तव मस्तक धार !
परम सुखी हो जाऊँगा मैं, हूँगा सहज भवार्णव पार !!

ॐ

नैवेद्य

चेतावनी !

बहुत गयी थोड़ी रही, नारायण अब चेत।
काल चिरैया चुगि रही, निसिदिन आयू खेत ॥
कालिह करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पलमहँ परलै होयगी, फेर करैगा कब ॥
रामनामकी लूट है, लूटि सकै तो लूट।
फिरि पाछे पछितायगा, प्रान जाहिंगे छूट ॥
तेरे भावैं जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर, अपनो भवन बुहार ॥

उम्र बीत रही है, रोज़-रोज़ हम मौतके नज़दीक पहुँच रहे हैं। वह दिन दूर नहीं है जब हमारे इस लोकसे कूच कर जानेकी खबर अड़ोसी-पड़ोसी और सगे-सम्बन्धियोंमें फैल जायगी। उस दिन सारा गुड़ गोबर हो जायगा। सारी शान धूलमें मिल जायगी। सबसे नाता टूट जायगा। जिनको 'मेरा मेरा' कहते जीभ सूखती है, जिनके लिये आज लड़ाई उधार लेनेमें भी इन्कार नहीं है, उन सबसे सम्बन्ध छूट जायगा, सब कुछ पराया हो जायगा। मनका सारा हवाई महल पल-भरमें ढह जायगा। जिस शरीरको रोज़ धो-पोंछकर सजाया जाता है—सर्दी-गर्मीसे बचाया जाता है, ज़रा-सी हवासे परहेज किया जाता है—सजावटमें तनिक-सी कसर मनमें संकोच पैदा कर देती है। वह सोने-सा शरीर राखका ढेर होकर मिट्टीमें मिल जायगा। जानवर खायँगे तो विष्ठा बन जायगा, सड़ेगा तो कीड़े पड़ जायँगे। यह सब बातें सत्य—परम सत्य होनेपर भी हम उस दिनकी दयनीय दशाको भूलकर याद नहीं करते। यही बड़ा अचरज है। इसीलिये युधिष्ठिरने कहा था—

> अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
> शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

प्रतिदिन जीव मृत्युके मुखमें जा रहे हैं पर बचे हुए लोग अमर रहना चाहते हैं इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा? अतएव भाई! बेखबर मत रहो। उस दिनको याद रक्खो; सारी शेखी चूर हो जायगी। ये राजमहल, सिंहासन, ऊँची-ऊँची इमारतें, किसी काममें न आयँगी। बड़े शौकसे मकान बनाया था, सजावटमें धनकी नदी बहा दी थी, पर उस दिन उस प्यारे महलमें दो घड़ीके लिये भी इस देहको स्थान न मिलेगा। घरकी सारी मालिकी छिनमें छिन जायगी। सारी पद-मर्यादा मटियामेट हो जायगी।

इस जीवनमें किसीकी कुछ भलाई की होगी तो लोग अपने स्वार्थके लिये दो-चार दिन तुम्हें याद करके रो लेंगे! सभाओंमें शोकके प्रस्ताव पासकर रस्म पूरी कर दी जायगी! दुःख देकर मरोगे तो लोग तुम्हारी लाशपर थूकेंगे, वश न चलेगा तो नामपर तो चुपचाप ज़रूर ही थूकेंगे। बस, इस शरीरका इतना-सा नाता यहाँ रह जायगा!

अभी कोई भगवान्‌का नाम लेनेको कहता है तो जवाब दिया जाता है 'मरनेकी भी फ़ुरसत नहीं है, कामसे वक़्त ही नहीं मिलता।' पर याद रक्खो, उस दिन अपने-आप फ़ुरसत मिल जायगी। कोई बहाना बचेगा ही नहीं। सारी उछल-कूद

मिट जायगी, तब पछताओगे, रोओगे, पर 'फिर पछताये क्या बनै जब *चिड़िया चुग गयीं खेत'* मनुष्य-जीवन जो भगवान्‌को प्राप्त करनेका एकमात्र साधन था, उसे तो यों ही खो दिया, अब बस, रोओ ! तुम्हारी गफ़लतका यह नतीजा ठीक ही तो है !

पर अब भी चेतो ! विद्या-बुद्धि-वर्ण-धन-मान-पदका अभिमान छोड़कर सरलतासे परमात्माकी शरण लो ! भगवान्‌की शरणके सामने ये सभी कुछ तुच्छ हैं, नगण्य हैं !

विद्या-बुद्धिके अभिमानमें रहोगे, फल क्या होगा ? तर्क-वितर्क करोगे; हार गये तो रोओगे—पश्चात्ताप होगा । जीत गये तो अभिमान बढ़ेगा । अपने सामने दूसरोंको मूर्ख समझोगे । 'हम शिक्षित हैं' इसी अभिमानसे तो आज हमारे मनने बड़े-बड़े पुरखाओंको मूर्खताकी उपाधि प्रदान कर दी है । इस बुद्धिके अभिमानने श्रद्धाका सत्यानाश कर दिया । आज परमेश्वर भी कसौटीपर कसे जाने लगे ! जो बात हमारी तुच्छ तर्कसे कभी सिद्ध नहीं होती, उसे हम किसीके भी कहनेपर कभी माननेको तैयार नहीं ! इसी दुरभिमानने सत्-शास्त्र और सन्तोंके अनुभव-सिद्ध वचनोंमें तुच्छ भाव पैदा कर दिया ।

हम उन्हें कविकी कल्पनामात्र समझने लगे। धनके अभिमानने तो हमें गरीब भाइयोंसे—अपने ही जैसे हाथ-पैरवाले भाइयोंसे सर्वथा अलग कर दिया। ऊँची जातिके घमण्डने मनुष्योंमें परस्पर घृणा उत्पन्न कर एक दूसरेको वैरी बना दिया। व्यभिचार, अत्याचार, अनाचार आज हमारे चिर-संगी बन गये। बड़े-से-बड़े पुरुष आज हमारी तुली-मपी अक्लके सामने परीक्षामें फेल हो गये।

पद-मर्यादाकी तो बात ही निराली है, जहाँ कुर्सीपर बैठे कि आँखें फिर गयीं, आसमान उल्टा दिखायी पड़ने लगा! दो दिनकी परतन्त्रतामूलक हुकूमतपर इतना घमण्ड, चार दिनकी चाँदनीपर इतना इतराना! अरे, रावण-हिरण्यकशिपु-सरीखे धरती तौलनेवालोंका पता नहीं लगा, फिर हम तो किस बागकी मूली हैं। सावधान हो जाओ। छोड़ दो इस विद्या-बुद्धि-वर्ण-धन-परिवार-पदके झूठे मदको, तोड़ दो अपने आप बाँधी हुई इन सारी फाँसियोंको, फोड़ दो भण्डा जगत्के मायिक रूपका, जोड़ दो मन उस अनादिकालसे नित्य बजनेवाली मोहनकी महा मायाविनी किन्तु मायानाशिनी मधुर मुरली-ध्वनिमें और मोड़ दो—निश्चयात्मिका बुद्धिकी गतिको निज नित्य-निकेतन नित्य सत्य आनन्दके द्वारकी ओर।

हम चाहते नहीं

इस स्थूलवादप्रधान इन्द्रियसुखान्वेषी संसारमें स्वाभाविक ही ईश्वरपर श्रद्धा कम होती चली जा रही है। विषयवारुणीकी मादकतासे जगत् उन्मत्त होता चला जा रहा है। जो लोग अपने-को ईश्वरवादी मानते हैं और ईश्वरको सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी कहते हैं वे भी जब छिपकर पाप करते हैं, मनमें पाप-वासनाओंको स्थान

देते नहीं सकुचाते, तब यही प्रतीत होता है कि उनका ईश्वरको सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी भी कहना विडम्बनामात्र है।

ऐसी स्थितिमें ईश्वर और ईश्वर-भक्तिके लिये कुछ अधिक कहना-सुनना अरण्य-रोदनके समान ही होता है, परन्तु इस त्रिताप-तप्त संसारके लिये ईश्वर-भक्तिकी सुधा-धाराके सिवा अन्य कोई साधन भी नहीं है, जो हमें प्रतिदिन बढ़ते हुए दुःख-दावानलसे बचाकर शीतल कर सके। इसलिये जगत्‌के मनोनुकूल न रहनेपर भी समय-समयपर सन्तोंने इस ओर लोगोंका ध्यान खींचनेकी चेष्टा की है।

ईश्वर स्वयंसिद्ध है और प्रत्यक्ष है। उसे किसीके द्वारा अपनी सिद्धि करानेकी अपेक्षा नहीं है। जीव जबतक मायामुग्ध रहता है तबतक उसे नहीं देखता, जिस दिन उसका भाग्योदय होता है उस दिन सन्त-महात्माओंकी कृपासे उसकी आँखें खुलती हैं तब वह अपने सामने ही उस विश्व-विमोहन मोहनको देखकर मुग्ध हो जाता है। उस समय उसका जो मायाका आवरण हटता है वह फिर कभी सामने नहीं आ सकता, वह कृतकृत्य हो जाता है परन्तु मायामुग्ध प्राणीके लिये ऐसा अवसर कठिनतासे आता है, जब भगवान् कृपाकर उसे सांसारिक विपत्तियोंमें डालते हैं,

जब जगत्से हृदयमें निराशा उत्पन्न होती है उस समय सन्तोंका संग प्राप्त होनेपर भगवान्की ओर जीवकी रुचि होती है। भगवान्का स्मरण दुःखमें अनायास हुआ करता है। इसीसे देवी कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे विपत्तिका वरदान माँगा था।

जब चारों ओरसे विपत्तिके बादल मँडराने लगते हैं, कहीं-से भी कोई सहारा नहीं मिलता, उस समय मनुष्यका हृदय स्वाभाविक ही उस अनजाने-अनदेखे निराश्रयके परम आश्रय किसी अचिन्त्य शक्तिकी गोदमें आश्रय चाहता है। उस समय उसके मुखसे सहसा यह शब्द निकल पड़ते हैं कि 'प्रभो! अब तो तू ही बचा' उधरसे तुरन्त उत्तर मिलता है *'मा शुचः'* और उसे तत्काल आश्रय मिल जाता है, क्योंकि यह भगवान्का विरद है।

जो इसप्रकार निराश्रयका आश्रय है, विपद्कालका परम बन्धु है, सबके द्वारा त्याग दिये जानेपर भी जो सदा साथ रहता है, दलित–अपमानित होनेपर भी जो हृदयसे लगानेको तैयार है, पुकारते ही उत्तर देता है, सदा सब तरहसे अभय-दान देने-को प्रस्तुत रहता है और विशाल भुजा फैलाये तुम्हें आलिङ्गन करनेको आगे बढ़ता रहता है। रे अभागे जीव! ऐसे परम हितैषी

जीवन-सखाकी भी तू उपेक्षा करता है। अरे, उसे हृदयसे चाहने और एक वार पुकारनेमें भी तुझे संकोच मालूम होता है।

हम धनके लिये खून-पानी एक कर देते हैं, स्त्री-पुत्रादिके लिये धर्म-कर्म तकको तिलाञ्जलि दे डालते हैं, मान-बड़ाईके लिये भाँति-भाँतिके ढोंग रचते हैं, उनकी प्राप्तिके लिये चित्त सन्तत व्याकुल रहता है, खाना-पीना भूल जाते हैं, मान-अपमान सहते हैं, रातों रोते हैं, खुशामदें और मिन्नतें करते हैं, निष्कपट चित्तसे उन्हें पानेका प्रयत्न करते हैं, परन्तु उस परमात्माके लिये क्या करते हैं? जो हमारा परम धन है, परम आत्मीय है, क्या कभी उसके लिये हमने सच्चे मनसे एक भी आँसू वहाया? क्या कोई अपने हृदयको भली भाँति टटोलकर छातीपर हाथ रखकर यह कह सकता है कि मैं परमात्माके लिये बहुत रोया, बहुत व्याकुल हुआ, परन्तु उधरसे कोई उत्तर आश्वासनका नहीं मिला? मेरा हृदय उसके लिये तलमला उठा, परन्तु उसने मुझे दर्शन नहीं दिये? सच्ची बात तो यह है कि हमारे अनन्त शरीरोंमें आजतक कभी ऐसा सौभाग्य नहीं हुआ, यदि होता तो फिर इस कष्टमय स्थितिमें हम रहते ही क्यों? हमारी आँखोंसे आँसू बहुत वार वहते हैं पर वह वहते हैं विषयोंके लिये, परमात्माके लिये

नहीं। इसीलिये परमात्मा सदा हमारे साथ रहकर भी हमारी आँखोंसे ओझल रहता है। इसीसे उस नित्यके संगीको हम कभी नहीं देख पाते। उसको पानेके लिये धर्म-कर्म छोड़कर छल-कपट-पाप करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल छल छोड़कर उसे चाहनेकी। जिस दिन उसके लिये हमारा चित्त व्याकुल हो उठेगा, जिस दिन उसका वियोग क्षणभरके लिये भी सहन नहीं होगा, जिस दिन कृष्णविरहके दावानलसे हृदय दग्ध होने लगेगा, जिस दिन उस प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारे श्यामसुन्दरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुहावेगा, उस दिन उसी क्षणमें उसे बाध्य होकर दर्शन देने पड़ेंगे। उस समय उसको भी हमारा क्षणभरका वियोग सहन नहीं होगा। उसकी तो प्रतिज्ञा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता)

भगवान्‌का मिलना कठिन नहीं है, कठिन है विषय-व्यामोहसे विमुक्त होकर उसे हृदयसे चाहना और अन्तरकी आवाजसे उसे पुकारना। यह सदा स्मरण रक्खो कि वह हमसे मिलनेके लिये सदा ही आतुर है, पर हम अभागे उसे चाहते नहीं।

गीता और भगवान् श्रीकृष्ण

ब्रह्माण्डानि बहूनि पंकजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान् ,
गोपान्वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः ।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात् ,
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा ॥

कृपापात्रं यस्य त्रिपुररिपुरम्भोजवसतिः,
सुता जह्नोः पूता चरणनखनिर्णेजनजलम् ।
प्रदानं वा यस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि,
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः ॥

(शङ्कराचार्य)

सखि ! शृणु कौतुकमेकं नन्दनिकेतांगणे मया दृष्टम् ।
गोधूलिधूसरांगो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥

शुद्ध सच्चिदानन्दघन नित्य निर्विकार अज अविनाशी घटघटवासी पूर्णब्रह्म परमात्मा लीलामय भगवान् श्रीश्रीकृष्णके चारु चरणारविन्दोंकी परमपावनी भव-भय-हारिणी ऋषि-मुनि-सेविता सुरासुर-दुर्लभ भक्तजन-दिव्यनेत्राञ्जन-स्वरूपा चरण-धूलिको असंख्य नमस्कार है, जिसके एक कण-प्रसादसे अनादिकालीन त्रितापतप्त माया-मोहित जीव समस्त बन्धनोंसे अनायास मुक्त होकर लीलामयकी नित्य नूतन मधुर लीलामें सदैव सम्मिलित रहनेका प्रत्यक्ष अनुभव कर अपार आनन्दाम्बुधिमें सदाके लिये निमग्न हो जाता है। साथ ही पूर्ण ब्रह्मकी उस पूर्ण ज्ञानमयी वाङ्मयी मूर्ति श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति अनेक नमस्कार है। जिसके किञ्चित् अध्ययनमात्रसे ही मनुष्य सुदुर्लभ परमपदका अधिकारी हो जाता है। गीता भगवान्‌की दिव्य वाणी है, वेद तो भगवान्‌का निश्वास-मात्र है, परन्तु गीता तो स्वयं आपके मुखारविन्दसे निकली हुई त्रितापहारिणी दिव्य सुधा-धारा है। गीता-गायक गीता-नायक भगवान् श्रीकृष्ण, गीताके श्रोता अधिकारी भक्त-शिरोमणि महात्मा अर्जुन और भगवती भागवती गीता तीनोंके प्रति पुनः-पुनः नमस्कार है।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ॥

भगवान्‌का तत्त्व भक्तिसे जाना जाता है बुद्धिवादसे नहीं

विश्वके जीवोंका परम सौभाग्य है कि उन्हें श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन, श्रीकृष्ण-लीला-श्रवण और श्रीकृष्णोपदेश-अध्ययनका परम लाभ मिल रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण जीवोंपर दया करके ही पूर्णरूपसे द्वापरके अन्तमें अवतीर्ण हुए थे। मनुष्य-बुद्धिका मिथ्या गर्व आजकल बहुत ही बढ़ गया है, इसीसे भगवान् श्रीकृष्णकी पूर्ण ईश्वरता और उनके पूर्ण अवतारपर लोग शङ्का कर रहे हैं, यह जीवोंका परम दुर्भाग्य समझना चाहिये कि आज स्वयं भगवान्‌के अवतार और उनकी लीलाओंपर मनमानी टीका-टिप्पणियाँ करनेका दुःसाहस किया जाता है और इसीमें ज्ञानका विकास माना जाता है। कुछ लोग तो यहाँ तक मानते और कहते हैं कि भगवान्‌का अवतार कभी हो नहीं सकता। क्यों नहीं हो सकता? इसीलिये कि हमारी बुद्धि भगवान्‌का मनुष्यरूपमें अवतार होना स्वीकार नहीं करती। वाह री बुद्धि! जो बुद्धि क्षण-क्षणमें बदल सकती है, जिस बुद्धिका निश्चय तनिक-से भय या उद्वेगका कारण उपस्थित होते ही परिवर्तित हो जाता है, जो बुद्धि आज जिस वस्तुमें सुख मानती है, कल उसीमें

दुःखका अनुभव करती है, जो बुद्धि भविष्य और भूतका यथार्थ निर्णय ही नहीं कर सकती और जो बुद्धि निरन्तर मायाभ्रममें पड़ी हुई है, वह बुद्धि प्रकृतिके प्रकृत स्वामी परमात्माके कर्तव्य, उनकी अपरिमित शक्ति-सामर्थ्यका निर्णय करे और उनको अपने मनोनुकूल नियमोंकी सीमामें आवद्ध रखना चाहे, इससे अधिक उपहासास्पद विचार और क्या हो सकता है ? अनादिकालसे जीव परमानन्दरूप परमात्माकी खोजमें लगा है, परमात्माकी प्राप्तिके लिये वह मनुष्य-जीवन धारण करता है, परमात्माकी प्राप्ति परमात्माको जाननेसे होती है, इसके लिये और कोई भी साधन नहीं है—*'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।'* परन्तु उनका जानना अत्यन्त ही कठिन है। कारण, उनका स्वरूप अचिन्त्य है, मनुष्य अपने बुद्धिवलसे भगवान्‌को कभी नहीं जान सकता, वह अपने विद्या-बुद्धिके वलसे जड संसारके तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु परमात्माका ज्ञान बुद्धिके सहारे सर्वथा असम्भव है।

'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो न विद्मो न विजानीमो', 'यन्मनसा न मनुते' (केन०) 'नैषा तर्केण मतिरापनेया, नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न वहुना श्रुतेन' (कठ०)

श्रुतियाँ इस प्रकार पुकार रही हैं, फिर क्षणजीवन-स्थायी अस्थिर-मति मनुष्य अपने बुद्धिवादके भरोसे परमात्माके परम तत्त्वका पता लगाना चाहता है। *'किमाश्चर्यमतः परम् !'*

भगवान्‌को जाननेके बाद फिर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, गीतामें भगवान्‌ने कहा है, 'मैं जैसा हूँ वैसा तत्त्वसे मुझे जानते ही मनुष्य मुझमें प्रवेश कर जाता है यानी मद्रूपताको प्राप्त हो जाता है।' (*माम् तत्त्वतः अभिजानाति यः च यावान् अस्मि ततः माम् तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरम् विशते। गीता १८।५५*) परन्तु इस प्रकार जाननेका उपाय है केवल उनकी परम कृपा ! भगवत्कृपाद्वारा ही भक्त उन्हें तत्त्वतः जान सकता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् (कठ०)

भगवान् जिसपर कृपा करते हैं वही उन्हें पाता है, उसीके समीप वे अपना स्वरूप प्रकट करते हैं।

सो जाने जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहि होइ जाई॥
तुम्हरी कृपा तुमहि रघुनन्दन। जानत भक्त भक्तउर-चन्दन॥

इस कृपाका अनुभव उनकी 'परा' (अनन्य) 'भक्तिसे' होता है, जिसके साधन भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे ये बतलाये हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता १८। ५१–५४)

(१) जिसकी बुद्धि तर्कजालसे छूटकर, परम श्रद्धासे ईश्वर-प्रेमके समुद्रमें अवगाहन कर विशुद्ध हो जाती है।

(२) जिसकी धारणामें एक भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता।

(३) जो अन्तःकरणको वशमें कर लेता है।

(४) जो पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों विषयोंमें आसक्त नहीं होता।

(५) जो रागद्वेषको नष्ट कर डालता है।

(६) जो ईश्वरीय साधनके लिये एकान्तवास करता है।

(७) जो केवल शरीर-रक्षणार्थ सादा अल्प भोजन करता है।

(८) जिसने मन-वाणी और शरीरको जीत लिया है।

(९) जिसको इस लोक और परलोकके सभी भोगोंसे नित्य अचल वैराग्य है।

(१०) जो सदा-सर्वदा परमात्माके ध्यानमें मस्त रहता है।

(११) जिसने अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोधरूप दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग कर दिया है।

(१२) जो भोगके लिये आसक्तिवश किसी भी वस्तुका संग्रह नहीं करता।

(१३) जिसको सांसारिक वस्तुओंमें पृथक्‌रूपसे 'मेरापन' नहीं रह गया है।

(१४) जिसके अन्तःकरणकी चञ्चलता नष्ट हो गयी है।

(१५) जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें लीन होनेकी योग्यता प्राप्त कर चुका है।

(१६) जो ब्रह्मके अन्दर ही अपनेको अभिन्नरूपसे स्थित समझता है।

(१७) जो सदा प्रसन्न-हृदय रहता है ।

(१८) जो किसी भी वस्तुके लिये शोक नहीं करता ।

(१९) जिसके मनमें किसी भी पदार्थकी आकांक्षा नहीं है ।

(२०) जो सब भूतोंमें सर्वत्र समभावसे आत्मारूप परमात्माको देखता है ।

इन लक्षणोंसे युक्त होनेपर साधक मेरी (भगवान्‌की) पराभक्तिको प्राप्त होता है, 'मद्भक्तिं लभते पराम्' जिससे वह भगवान्‌का यथार्थ तत्त्व जान सकता है ।

ईश्वरका अवतार

आजके हम क्षीणश्रद्धा, क्षीणबुद्धि, क्षीणबल, क्षीणपुण्य, साधनहीन, विषय-विलास-मोहित, रागद्वेष-विजड़ित, काम-क्रोध-मद-लोभ-परायण, अजितेन्द्रिय, मानसिक संकल्पोंके गुलाम, अनिश्चितमति, दुर्बलहृदय मनुष्य तर्कके बलसे ईश्वरको तत्त्वसे जाननेका दावा करते हैं और यह कहनेका दुस्साहस कर बैठते हैं कि बस, ईश्वर ऐसा ही है ! यह अभिमानपूर्ण दुराग्रहके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । ईश्वरकी दिव्य क्रियाओं और उनकी अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें युक्तियाँ उपस्थित करके उन्हें सिद्ध या असिद्ध करने जाना नितान्त हास्यजनक बालकोचित

कार्य है। और इसीलिये यह किया भी जाता है। परमात्माके वे बालक, जैसे अपनी ससीम बुद्धिकी सीमामें परम पिताकी असीम क्रियाशीलता और अपरिमित सामर्थ्यको बाँधनेका ईश्वरकी दृष्टिमें एक विनोदमय खेल करते हैं, इसी प्रकार मैं भी, जो अपने उन बड़े भाइयोंसे सब तरह छोटा हूँ,—अपने उन भाइयोंके खेल-का प्रतिद्वन्द्वी बनकर परम पिताको और अपने बड़े भाइयोंको अपनी मूर्खतापर हँसाकर प्रसन्न करनेके लिये कुछ खेल रहा हूँ, अन्यथा न तो मैं ईश्वरावतारको सिद्ध करनेकी आवश्यकता समझता हूँ, न उसे सिद्ध करनेका अपना अधिकार ही मानता हूँ, न वैसी योग्यता समझता हूँ, न साधक और सदाचारी होनेका ही दावा करता हूँ और न सांसारिक विद्या-बुद्धि एवं तर्कशीलतामें ही अपनेको दूसरे पक्षके समकक्ष पाता हूँ, ऐसी स्थितिमें मेरा यह प्रयत्न इसीलिये समझना चाहिये कि इसी बहाने भगवान्‌के कुछ नाम आ जायँगे, उनकी दो-चार लीलाओंका स्मरण होगा, जिनके प्रभावसे महापापी मनुष्य भी परमात्माके प्रेमका अधिकारी बन जाता है।

अवतारके विरोधियोंकी प्रधान दलीलें हैं—

(१) पूर्ण परब्रह्मका अवतार धारण करना सम्भव नहीं।

(२) यदि अखण्ड ब्रह्म अवतार धारण करता है तो

उसकी अखण्डता नहीं रह सकती जो ईश्वरमें अवश्य रहनी चाहिये।

(३) ब्रह्मके एक ही निर्दिष्ट देश, काल, पात्रमें रहनेपर शेष सृष्टिका काम कैसे चलेगा ?

(४) किसी देश, काल, पात्र-विशेषमें ही ईश्वरको मानने-से ईश्वरकी महत्ताको संकुचित किया जाता है।

(५) ईश्वर सर्वशक्तिमान् होनेके कारण विना ही अवतार धारण किये दुष्ट-संहार, शिष्ट-पालन और धर्म-संस्थापनादि कार्य कर सकता है, फिर उसको अवतार धारण करनेकी क्या आवश्यकता है।

(६) ईश्वरके मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी कल्पना उसका अपमान करना है।

इसी प्रकार और भी कई दलीलें हैं, इन सबका एकमात्र उत्तर तो यह है और यही मेरी समझसे सबसे उपयुक्त है कि 'सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें सब कुछ सम्भव है, छोटे-बड़े होनेमें उनका कोई संकोच-विस्तार नहीं होता, क्योंकि उनका रूप ही—*'अणो-रणीयान् महतो महीयान्'* है, उनकी इच्छाका मूल उन्हींके ज्ञानमें है, अतः वे कब, क्यों, कैसे, क्या करते हैं ? इन प्रश्नोंका उत्तर वे ही दे सकते हैं। परन्तु उन भगवान्‌को हम-जैसे अतपस्क, अभक्त,

जिज्ञासाशून्य, ईश्वरनिन्दक जीवोंके सामने अपनी गोपनीय लीला प्रकाश करनेकी ग़रज ही क्या है ? अस्तु !

अतएव विनोदके भावसे ही उपर्युक्त दलीलोंका कुछ उत्तर दिया जाता है ।

दलीलोंका उत्तर

(१) सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्मके लिये ऐसी कोई बात नहीं जो सम्भव न हो । जब नाना प्रकार विचित्र सृष्टिकी रचना, उसका पालन, विधिवत् समस्त व्यवहारोंका सञ्चालन तथा चराचर छोटे-बड़े समस्त भूतोंमें विकसित एवं अविकासित आत्मसत्तारूपमें निवास आदि अद्भुत कार्य सम्भव हैं, तब अपनी इच्छासे अवतार धारण करना उनके लिये असम्भव कैसे हो सकता है ?

(२) अखण्ड ब्रह्मके अवतार धारण करनेसे उसकी अखण्डतामें कोई बाधा नहीं पहुँचती । परमात्माका स्वरूप जगत्के औपाधिक पदार्थोंकी तरह ससीम नहीं है, जगत्के पदार्थ एक समय दो जगह नहीं रह सकते, परन्तु परमात्माके लिये ऐसी बात नहीं कही जा सकती । क्या परमात्मा असंख्य जीवोंमें आत्मरूपसे वर्त्तमान नहीं है ? यदि है तो क्या वह खण्ड-खण्ड

है ! यदि उन्हें खण्ड मानते हैं तो अनेक ब्रह्म मानने पड़ते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। वे एक जगह मनुष्य-शरीरमें अवतीर्ण होनेपर भी अनन्तरूपसे अपनी सत्तामें स्थिर रहते हैं। यह सारा संसार ब्रह्मसे उत्पन्न है,सभी जीवोंमें ब्रह्मकी आत्म-सत्ता है जो 'निरंश' भगवान्‌का सनातन अंश है। '*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।*' इतना होनेपर उनकी अखण्डतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता, वे सृष्टिके पूर्व जैसे थे, वैसे ही अब हैं, उनकी पूर्णता नित्य और अनन्त है। क्योंकि—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे ही पूर्णकी वृद्धि होती है, पूर्णके पूर्णको ले लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है।

आकाशमें लाखों नगर बस जानेपर भी आकाशकी अखण्डतामें कोई बाधा नहीं पड़ती, यद्यपि दीवारोंसे घिरे हुए अंशविशेषमें छोटे-बड़ेकी कल्पना होती है। आकाशका उदाहरण भी भगवान्‌की अखण्डताको बतलानेके लिये पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह अनन्त और असीम नहीं है, सान्त और ससीम है, परन्तु भगवान् तो नित्य अनन्त और असीम हैं।

यही भगवान्‌की महिमा है, इसीसे वेद उन्हें 'नेति-नेति' कहते हैं। ऐसे महामहिम भगवान्‌के सगुण-निर्गुण दोनों ही रूपोंकी कल्पना की जाती है। भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको तो भगवान् ही जानते हैं। अतएव अवतार लेनेपर भी वे अखण्ड ही रहते हैं।

(३) जब भगवान् अपनी सत्तामें सदैव समानभावसे पूर्ण रहते हैं, तब उनके एक जगह अवतार धारण करनेपर उनके द्वारा शेष सृष्टिके कार्य सञ्चालन होनेमें कोई बाधा आ ही कैसे सकती है ?

(४) ईश्वरका सङ्कोच नहीं होता, वे *'आत्ममायया'* अपनी लीलासे नरदेह धारण करते हैं। किसी निर्दिष्ट देश, काल, पात्रमें प्रकट होनेपर भी वे व्यापक अव्यक्त अग्निकी भाँति समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त रहते हैं और जिस सत्ताके द्वारा सृष्टि-क्रमका सञ्चालन किया जाता है, उसमें भी स्थित रहते हैं। यही उनकी अलौकिकता है। अवतारवादी लोग ईश्वरको केवल देहदृष्टिसे नहीं पूजते, वे उन्हें पूर्ण परात्पर भगवत्-भावसे ही पूजते हैं। इसलिये वे उनको छोटा नहीं बनाते, वरं 'कृपावश अपनी महिमासे अपने नित्य स्वरूप-में पूर्णरूपसे स्थित रहते हुए ही हमारे उद्धारके लिये प्रकट हुए

हैं' ऐसा समझकर वे उनकी महिमाको और भी बढ़ाते हैं। यहाँ-पर यह कहा जा सकता है कि आत्मरूपसे तो सभी जीव ईश्वर-के अवतार हैं, फिर किसी खास अवतारको ही भगवान् क्यों मानना चाहिये? यद्यपि भगवान्की आत्मसत्ता सबमें व्याप्त होनेसे सभी ईश्वरके अवतार हैं परन्तु वे जीवभावको प्राप्त रहनेके कारण कर्मवश मनुष्यादि शरीरोंमें प्रकट हुए हैं, वे कर्मफल भोगनेमें परतन्त्र हैं, परन्तु भगवान् तो यह कहते हैं कि—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

—मैं अविनाशी, अजन्मा और सर्वभूतोंका ईश्वर रहते हुए ही अपनी प्रकृतिको साथ लेकर लीलासे देह धारण करता हूँ।

इससे पता चलता है वे जीवोंका उद्धार करनेके लिये स्वतन्त्रतासे दिव्य देह धारण करते हैं। अतएव उनमें कोई संकोच नहीं होता।

(५) ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, वे संकल्पसे ही सम्भवको असम्भव और असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, इस स्थितिमें उनके लिये अवतार धारण किये बिना ही दुष्टोंका संहार, शिष्टों-का पालन और धर्म-संस्थापन करना सर्वथा सम्भव है, परन्तु तो

भी सुना जाता है कि वे भक्तोंके प्रेमवश अवतार लेकर जगत्में एक महान् आदर्शकी स्थापना करते हैं। वे संसारमें न आवें तो जगत्के लोगोंको ऐसा महान् आदर्श कहाँसे मिले? लोकमें आदर्श स्थापन करनेके लिये ही वे अपने पार्षद और मुक्त भक्तोंको साथ लेकर धराधाममें अवतीर्ण होते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।

(गीता ३।२२ से २४ का पूर्वार्ध)

हे अर्जुन! यद्यपि तीनों लोकोंमें न तो मुझे कुछ कर्तव्य है और न मुझे कोई वस्तु अप्राप्त ही है, (क्योंकि मैं ही सबका आत्मा, अधिष्ठान, सूत्रधार, सञ्चालक और भर्ता हूँ) तथापि मैं कर्म करता हूँ, यदि मैं सावधानीसे कर्म न करूँ तो दूसरे लोग भी सब प्रकारसे मेरा ही अनुसरण करके आदर्श शुभ कर्मोंका करना त्याग दें (क्योंकि कर्मोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग तो होता

नहीं, केवल शुभ कर्म ही त्यागे जाते हैं) अतएव मेरे कर्म करके आदर्श स्थापित न करनेसे लोक साधनमार्गसे भ्रष्ट हो जायँ।

इसके अतिरिक्त उनके अवतारके निगूढ़ रहस्यको वास्तवमें स्वयं वे ही जानते हैं, या वे महात्मा पुरुष यत्किञ्चित् अनुमान कर सकते हैं जो भगवान्‌की प्रकृतिसे उनकी कृपाके द्वारा किसी अंशमें परिचित हो चुके हैं। परन्तु जो अपनी बुद्धिके बलपर तर्कयुक्तियोंकी सहायतासे तर्कातीत परमात्माकी प्रकृतिका निरूपण करना चाहते हैं, उन्हें तो औंधे मुँह गिरना ही पड़ता है। पर अवतारवादी तो यह कभी कहते भी नहीं कि बिना अवतारके दुष्ट-संहार, शिष्ट-पालन और धर्म-स्थापन कार्य कभी नहीं होता। न गीतामें ही कहीं भगवान्‌ने ऐसा कहा है। भगवान् किसी दूसरेको भेजकर या दूसरेको शक्ति प्रदान करके भी ये काम करवा सकते हैं, इसीसे कला और अंशभेदसे अनेक अवतार माने जाते हैं। अधर्मके कितने परिमाणमें बढ़ जानेपर और भक्तोंके प्रेमकी धारा कहाँतक बह जानेपर भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं इस बातका निर्णय हमारी बुद्धि नहीं कर सकती, क्योंकि वह अपने बलसे आध्यात्मिक पथपर बहुत दूरतक जा ही नहीं सकती।

भगवान् दुष्टोंका विनाश करके भी उनका उद्धार ही करने आते हैं। महाभारत और श्रीमद्भागवतके इतिहाससे यह भली भाँति सिद्ध है। पर इस कार्यके लिये अवतार धारण करनेकी यह आवश्यकता कब होती है, इस बातका पता भी उन्हींको है, जिनकी एक सत्ताके अधीन सब जीवोंके कर्मोंका यन्त्र है।

(६) उनके मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी कल्पना उनका अपमान नहीं है, अपितु उनकी शक्तिको सीमाबद्ध कर देना और यह मान लेना कि वे ऐसा नहीं कर सकते, यही उनका अपमान है। जो अनवकाशमें अवकाश और अवकाशमें अनवकाश कर सकते हैं, वे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण नहीं हो सकते, ऐसा निर्णय कर उनकी शक्तिका सीमानिर्देश करना कदापि उचित नहीं है।

श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म भगवान् हैं

उपर्युक्त विवेचनसे गीताके अनुसार यह सिद्ध है कि ईश्वर अपनी इच्छासे प्रकृतिको अपने अधीन कर जब चाहें तभी लीला-से अवतार धारण कर सकते हैं। संसारमें भगवान्के अनेक अवतार हो चुके हैं, अनेक रूपोंमें प्रकट होकर मेरे उन लीलामय नाथने अनेक लीलाएँ की हैं, '*बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि।*' कला और अंशावतारोंमें कई क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुके

होते हैं, कुछ भगवान् शिवके होते हैं, कुछ सच्चिदानन्दमयी योग-शक्ति देवीके होते हैं, किसीमें कम अंश रहते हैं, किसीमें अधिक, अर्थात् किसीमें भगवान्‌की शक्ति-सत्ता न्यून प्रकट होती है, किसीमें अधिक। इसीलिये सूतजी महाराजने मुनियोंसे कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्।

(भागवत १।३।२८)

मीन, कूर्मादि अवतार सब भगवान्‌के अंश हैं, कोई कला है, कोई आवेश है परन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं!

वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारसे पूर्ण हैं। उनमें सभी पूर्व और आगामी अवतारोंका पूर्ण समावेश है। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण बल, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त वैराग्यकी जीवन्त मूर्ति हैं। प्रारम्भसे लेकर लीलावसानपर्यन्त उनके सम्पूर्ण कार्य ही अलौकिक—चमत्कारपूर्ण हैं। उनमें सभी शक्तियाँ प्रकट हैं। बाबू बंकिमचन्द्रजी चटर्जीने भगवान् श्रीकृष्णको अवतार माना है और लाला लाजपतराय आदि विद्वानों-ने महान् योगेश्वर। परन्तु इन महानुभावोंने भगवान् श्रीकृष्णको जगत्‌के सामने भगवान्‌की जगह पूर्ण-मानवके रूपमें रखना चाहा है। मानव कितना भी पूर्ण क्यों न हो, वह है मानव ही, पर

भगवान् भगवान् ही हैं; वे अचिन्त्य और अतर्क्य शक्ति हैं। महामना बंकिम बाबूने अपने भगवान् श्रीकृष्णको 'सर्वगुणान्वित, सर्वपाप-संस्पर्श-शून्य, आदर्श चरित्र' पूर्ण मानवके रूपमें विश्वके सामने उपस्थित करनेके अभिप्रायसे उनके अलौकिक, ऐश्वरिक, मानवातीत, मानव-कल्पनातीत, शास्त्रातीत और नित्य मधुर चरित्रोंको उपन्यास बतलाकर उड़ा देनेका प्रयास किया है, उन्होंने भगवान्‌के ऐश्वर्यभावके कुछ अंशको, जो उनके मनमें निर्दोष जँचा है, मानकर, शेष रस और ऐश्वर्य-भावको प्रायः छोड़ दिया है, इसका कारण यही है कि वे भगवान् श्रीकृष्णको पूर्ण मानव-आदर्शके नाते भगवान्‌का अवतार मानते थे, न कि भगवान्‌की हैसियतसे अलौकिक शक्तिके नाते। यह बात खेदके साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि विद्या-बुद्धिके अत्यधिक अभिमानने भगवान्‌को तर्ककी कसौटीपर कसनेमें प्रवृत्त कराकर आज मनुष्यहृदयको श्रद्धा-शून्य, शुष्क रसहीन बनाना आरम्भ कर दिया है। इसीलिये आज हम अपनेको भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंका माननेवाला कहते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् माननेमें और उनके शब्दोंका सीधा अर्थ करनेमें हमारी बुद्धि सकुचाती है और ऐसा करनेमें हमें आज अपनी तर्कशीलता और बुद्धिमत्तापर आघात लगता

हुआ-सा प्रतीत होता है। भगवान्‌का सारा जीवन ही दिव्य लीला-मय है, परन्तु उनकी लीलाओंको समझना आजके हम-सरीखे अश्रद्धालु मनुष्योंके लिये बहुत कठिन है—इसीसे उनकी चमत्कार-पूर्ण लीलाओंपर मनुष्यको शङ्का होती है और इसीलिये आज-कलके लोग उनके दिव्यरूपावतारसे पूतनावध, शकटासुर-अघासुर-वध, अग्नि-पान, गोवर्धन-धारण, दधि-माखन-भक्षण, कालीय-दमन, चीरहरण, रासलीला, यशोदाको मुखमें विराट्‌रूप दिखलाने, साल-भरतक बछड़े और बालकरूप बने रहने, पाञ्चालीका चीर बढ़ाने, अर्जुनको विराट् स्वरूप दिखलाने और कौरवोंकी राजसभामें विलक्षण चमत्कार दिखलाने आदि लीलाओंपर सन्देह करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जिन परमात्माकी मायाने जगत्‌को मनुष्य-की बुद्धिसे अतीत नाना प्रकारके अद्भुत वैचित्र्यसे भर रक्खा है, उन मायापति भगवान्‌के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, बल्कि इन ईश्वरीय लीलाओंमें ही उनका ईश्वरत्व है, परन्तु यह लीला मनुष्यबुद्धिके अतर्क्य हैं। इन लीलाओंका रहस्य समझ लेना साधारण बात नहीं है। जो भगवान्‌के दिव्य जन्म और कर्मके रहस्यको तत्त्वतः समझ लेता है, वह तो उनके चरणोंमें सदाके लिये स्थान ही पा जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४।९)

'मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो तत्त्वसे जान लेता है वह शरीर छोड़कर पुनः जन्म नहीं लेता, वह तो मुझको ही प्राप्त होता है।' जिसने भगवान्‌के दिव्य अवतार और दिव्य लीला-कर्मोंका रहस्य जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। वह तो फिर भगवान्‌की लीलामें उनके हाथका एक यन्त्र बन जाता है। लोकमान्य लिखते हैं कि 'भगवत्प्राप्ति होनेके लिये (इसके सिवा) दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है, भगवत्‌की यही सच्ची उपासना है।' परन्तु तत्त्व जानना श्रद्धापूर्वक भगवद्भक्ति करनेसे ही सम्भव होता है। जिन महात्माओंने इसप्रकार भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थरूपसे जान लिया था, उन्हींमेंसे श्री-सूतजी महाराज थे, जो हजारों ऋषियोंके सामने यह घोषणा करते हैं कि '*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*' और भगवान् वेदव्यासजी तथा ज्ञानीप्रवर शुकदेवजी महाराज इसी पदको ग्रन्थित कर और गान-कर इस सिद्धान्तका सानन्द समर्थन करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णको नारायण ऋषिका अवतार कहा गया है,

नर-नारायण ऋषियोंने धर्मके औरस और दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे उत्पन्न होकर महान् तप किया था, कामदेव अपनी सारी सेना-समेत बड़ी चेष्टा करके भी इनके व्रतका भङ्ग नहीं कर सका (भागवत २।७।८)। ये दोनों भगवान् श्रीविष्णुके अवतार थे। देवीभागवतमें इन दोनोंको हरिका अंश (*हरेरंशौ*) कहा है (दे० भा० ४।५।१५) और भागवतमें कहा है कि भगवान्‌ने चौथी वार धर्मकी कलासे नर-नारायण ऋषिके रूपमें आविर्भूत होकर घोर तप किया था। भागवत और देवीभागवतमें इनकी कथाका विस्तार है। महाभारत और भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको कई जगह नर-नारायणका अवतार बतलाया गया है। (वनपर्व ४०।१२; भीष्मपर्व ६६।११; उद्योगपर्व ९६।४६ आदि, श्रीमद्भागवत ११।७।१८, १०।८९।३२-३३ आदि)

दूसरे प्रमाण मिलते हैं कि वे क्षीरसागरनिवासी भगवान् विष्णुके अवतार हैं। कारागारमें जब भगवान् प्रकट होते हैं तब शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्रीविष्णुरूपसे ही पहले प्रकट होते हैं तथा भागवतमें गोपियोंके प्रसंगमें तथा अन्य स्थलोंमें उन्हें 'लक्ष्मी-सेवित-चरण' कहा गया है, जिससे श्रीविष्णुका बोध होता है। भीष्मपर्वमें ब्रह्माजीके वाक्य हैं—

हे देवतागणो ! सारे जगत्‌का प्रभु मैं इनका ज्येष्ठ पुत्र हूँ, अतएव—

वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः ॥
तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः ।
नावज्ञेयो महावीर्यः शंखचक्रगदाधरः ॥
(महा० भीष्म० ६६।१३-१४)

'सर्वलोकके महेश्वर इन वासुदेवकी पूजा करनी चाहिये । हे श्रेष्ठ देवताओ ! साधारण मनुष्य समझकर उनकी कभी अवज्ञा न करना ।कारण, वे शंख-चक्र-गदा-धारी महावीर्य (विष्णु) भगवान् हैं ।' जय-विजयकी कथासे भी उनका विष्णु-अवतार होना सिद्ध है । इस विषयके और भी अनेक प्रमाण हैं ।

तीसरे इस बातके भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परमब्रह्म पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दघन थे । भगवान्‌ने गीता और अनुगीतामें स्वयं स्पष्ट शब्दोंमें अनेक बार ऐसा कहा है ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥ (गी० १०।८)
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गी० ७।७)

... ... सर्वलोकमहेश्वरम् ॥ (गी० ५।२९)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ (गी० १०।४२)

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ (गी० १५।१९)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (गी० १४।२७)

गीतामें ऐसे श्लोक बहुत हैं, उदाहरणार्थ थोड़े-से लिखे हैं । इनके सिवा महाभारतमें पितामह भीष्म, सञ्जय, भगवान् व्यास, नारद, श्रीमद्भागवतमें नारद, ब्रह्मा, इन्द्र, गोपियाँ, ऋषिगण आदि-के ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म सनातन परमात्मा थे । अग्रपूजाके समय भीष्मजी कहते हैं—

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यः तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ॥
(महा० सभा० ३८।२३-२४)

'श्रीकृष्ण ही लोकोंके अविनाशी उत्पत्ति-स्थान हैं, इस चराचर विश्वकी उत्पत्ति इन्हींसे हुई है। यही अव्यक्त प्रकृति और सनातन कर्ता हैं, यही अच्युत सर्व भूतोंसे श्रेष्ठतम और पूज्यतम हैं।' जो ईश्वरोंके ईश्वर होते हैं, वही महेश्वर या परमब्रह्म कहलाते हैं—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् (श्वेताश्वतर उ०)

मनुष्यरूप असुरोंके अत्याचारों और पापोंके भारसे घबराकर पृथ्वी देवी गौका रूप धारणकर ब्रह्माजीके साथ जगन्नाथ भगवान् विष्णुके समीप क्षीरसागरमें जाती हैं। (भगवान् विष्णु व्यष्टि पृथ्वीके अधीश्वर हैं, पालनकर्ता हैं। इसीसे पृथ्वी उन्हींके पास गयी।) तब भगवान् कहते हैं 'मुझे पृथ्वीके दुःखोंका पता है, ईश्वरोंके ईश्वर काल-शक्तिको साथ लेकर पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये पृथ्वीपर विचरण करेंगे। देवगण उनके आविर्भावसे पहले ही वहाँ जाकर यदुवंशमें जन्म ग्रहण करें।

> **वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः।**
> **जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥**

साक्षात् परम पुरुष भगवान् वसुदेवके घरमें अवतीर्ण होंगे, अतः देवाङ्गनागण उनकी सेवाके लिये वहाँ जाकर जन्म ग्रहण

करें ।' फिर कहा कि 'वासुदेवके कलास्वरूप सहस्रमुख अनन्तदेव श्रीहरिके प्रियसाधनके लिये पहले जाकर अवतीर्ण होंगे और भगवती विश्वमोहिनी माया भी प्रभुकी आज्ञासे उनके कार्यके लिये अवतार धारण करेंगी ।' इससे भी यह सिद्ध होता है, भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म थे। अब यह शङ्का होती है कि यदि वे पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे तो नर-नारायण और श्रीविष्णुके अवतार कैसे हुए और भगवान् विष्णुके अवतार तथा नर-नारायणऋषिके अवतार थे तो पूर्ण ब्रह्मके अवतार कैसे हैं ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण वास्तवमें पूर्ण ब्रह्म ही हैं। वे साक्षात् स्वयं भगवान् हैं, उनमें सारे भूत, भविष्य, वर्तमानके अवतारोंका समावेश है। वे कभी विष्णुरूपसे लीला करते हैं, कभी नर-नारायण रूपसे और कभी पूर्ण ब्रह्म सनातन ब्रह्मरूपसे। मतलब यह कि वे सब कुछ हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, वे सनातन ब्रह्म हैं, वे गोलोकविहारी महेश्वर हैं, वे क्षीरसागर-शायी परमात्मा हैं, वे वैकुण्ठ-निवासी विष्णु हैं, वे सर्वव्यापी आत्मा हैं, वे बदरिकाश्रम-सेवी नर-नारायण ऋषि हैं, वे प्रकृतिमें गर्भस्थापन करनेवाले विश्वात्मा हैं और वे विश्वातीत भगवान् हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमानमें जो कुछ है, वे वह सब कुछ हैं और जो उनमें नहीं है, वह कभी कुछ भी कहीं

नहीं था, न है और न होगा। बस, जो कुछ हैं सो वही हैं, इसके सिवा वे क्या हैं सो केवल वही जानते हैं, हमारा कर्तव्य तो उनकी चरणधूलिकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनामात्र है, इसके सिवा हमारा और किसी बातमें न तो अधिकार है और न इस परम साधनका परित्याग कर अन्य प्रपञ्चमें पड़नेसे लाभ ही है।

साधकोंका कर्तव्य

जो लोग विद्वान् हैं, बुद्धिमान् हैं, तर्कशील हैं, वे अपनी इच्छानुसार भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी समालोचना करें। उन्हें महापुरुष मानें, योगेश्वर मानें, परम पुरुष मानें, पूर्ण मानव मानें, अपूर्ण मानें, राजनैतिक नेता मानें, कुटिल नीतिज्ञ मानें, संगीतविद्याविशारद मानें, या कविकल्पित पात्र मानें, जो कुछ मनमें आवे सो मानें। साधकोंके लिये—साँवरे मनमोहनके चरणकमल-चञ्चरीक दीन जनोंके लिये तो वे अन्धेकी लकड़ी हैं, कंगालके धन हैं, प्यासेके पानी हैं, भूखेकी रोटी हैं, निराश्रयके आश्रय हैं, निर्बलके बल हैं, प्राणोंके प्राण हैं, जीवनके जीवन हैं; देवोंके देव हैं, ईश्वरोंके ईश्वर हैं और ब्रह्मोंके ब्रह्म हैं, सर्वस्व वही हैं—बस,

मोहन बसि गयो मेरे मनमें।
लोकलाज कुलकानि छूटि गयी, याकी नेह लगनमें॥

जित देखौं तित वह ही दीखै, घर बाहर आँगनमें।
अंग-अंग प्रति रोम-रोममें, छाइ रह्यो तन-मनमें॥
कुण्डल झलक कपोलन सोहै, बाजूबन्द भुजनमें।
कंकन कलित ललित वनमाला, नूपुर-धुनि चरननमें॥
चपल नैन भ्रकुटी वर बाँकी, ठाढ़ो सघन लतनमें।
नारायन बिन मोल बिकी हौं, याकी नेक हँसनमें॥

अतएव साधकोंको बड़ी सावधानीसे अपने साधन-पथकी रक्षा करनी चाहिये। मार्गमें अनेक बाधाएँ हैं। विद्या, बुद्धि, तप, दान, यज्ञ आदिके अभिमानकी बड़ी-बड़ी घाटियाँ हैं, भोगोंकी अनेक मनहरण वाटिकाएँ हैं, पद-पदपर प्रलोभनकी सामग्रियाँ बिखरी हैं, कुतर्कका जाल तो सब ओर बिछा हुआ है, दम्भ-पाखण्डरूपी मार्गके ठग चारों ओर फैल रहे हैं, मान-बड़ाईके दुर्गम पर्वतोंको लाँघनेमें बड़ी वीरतासे काम लेना पड़ता है, परन्तु श्रद्धाका पाथेय, भक्तिका कवच और प्रेमका अङ्गरक्षक सरदार साथ होनेपर कोई भय नहीं है। उनको जानने, पहिचानने, देखने और मिलनेके लिये इन्हींकी आवश्यकता है, कोरे सदाचारके साधनोंसे और बुद्धिवादसे काम नहीं चलता। भगवान्‌के ये वचन स्मरण रखने चाहिये—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'हे अर्जुन! हे परन्तप! जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है इस प्रकार वेदाध्ययन, तप, दान और यज्ञसे मैं नहीं देखा जा सकता। केवल अनन्य भक्तिसे ही मेरा देखा जाना, तत्त्वसे समझा जाना और मुझमें प्रवेश होना सम्भव है।'

गीताका सदुपयोग और दुरुपयोग

भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशामृत गीतासे हमें वही यथार्थ तत्त्व ग्रहण करना चाहिये, जिससे भगवत्-प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो। वास्तवमें भगवद्गीताका यही उद्देश्य समझना चाहिये और इसी काममें इसका प्रयोग करना गीताके उपदेशोंका सदुपयोग करना है। भगवान् श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीबलदेव आदि महान् आचार्योंसे लेकर आधुनिक कालके महान् आत्मा लोकमान्य तिलक महोदयतकने भिन्न-भिन्न उपायोंका प्रतिपादन करते हुए भगवत्-प्राप्तिमें ही गीताका उपयोग करना बतलाया है। इन लोगोंमें भगवान् और भगवत्-

प्राप्तिके स्वरूपमें पार्थक्य रहा है; परन्तु भगवत्-प्राप्तिरूप साध्यमें कोई अन्तर नहीं है। अवश्य ही आजकल गीताका प्रचार पहलेकी अपेक्षा अधिक है, परन्तु उससे जितना आध्यात्मिक लाभ होना चाहिये, उतना नहीं हो रहा है; इसका कारण यही है कि गीताका अध्ययन करनेके लिये जैसा अन्तःकरण चाहिये, वैसा आजकलके हम लोगोंका नहीं है। नहीं तो गीताके इतने प्रचारकालमें देश-देशान्तरोंमें पवित्र भगवद्भावोंकी बाढ़ आ जानी चाहिये थी। गीताके महान् सदुपदेशोंके साथ हमारे आजके आचरणोंकी तुलना की जाती है तो मालूम होता है कि हमारा आजका गीता-प्रचार केवल बाहरी शोभामात्र है। कई क्षेत्रोंमें तो गीता स्वार्थ-साधन या स्वमत-पोषणकी सामग्री बन गयी है, यही गीताका दुरुपयोग है। यहाँ इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) कुछ लोग, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, नाना प्रकारसे पापाचरणोंमें प्रवृत्त हैं, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि करते हैं, परन्तु अपनेको गीताके अनुसार चलनेवाला प्रसिद्ध करते हैं। वे पूछनेपर कह देते हैं कि 'यह सब तो प्रारब्ध-कर्म हैं। क्योंकि गीतामें कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(गीता ३।३३)

सभी जीव अपने पूर्व जन्मके कर्मानुसार बनी हुई प्रकृतिके वश होते हैं, ज्ञानीको भी अपनी अच्छी-बुरी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करनी पड़ती है, इसमें कोई क्या कर सकता है ? जब ज्ञानीको भी पाप करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है, तब हमारी तो बात ही क्या है ?' यों अर्थका अनर्थ कर अपने पापोंका समर्थन करनेवाले लोग इसीके अगले श्लोकपर और आगे चलकर ३७ वें से ४३ वें श्लोकतकके विवेचनपर ध्यान नहीं देते, जिनमें स्पष्ट कहा गया है कि पाप आसक्ति-मूलक कामनासे होते हैं, जिसपर विजय प्राप्त करना यानी पापोंसे बचना मनुष्यके हाथमें है और उसे उनसे बचना चाहिये। परन्तु वे इन बातोंकी ओर क्यों ध्यान देने लगे ? उन्हें तो गीताके श्लोकोंसे अपना मतलब सिद्ध करना है। यह गीताका एक दुरुपयोग है।

(२) कुछ पाखण्डी और पापाचारी लोग—जो अपनेको ज्ञानी या अवतार बतलाया करते हैं, अपने पाखण्ड और पापके समर्थनमें गीताके ये श्लोक उपस्थित करते हैं कि—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

'अपने राम तो अपने स्वरूपमें ही मस्त हैं, कुछ करते-कराते नहीं; यह सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना, जाना, सोना, श्वास लेना, बोलना, त्यागना, ग्रहण करना, आँखें खोलना, बन्द करना आदि कार्य तो इन्द्रियोंका अपने-अपने अर्थोंमें वर्तना-मात्र है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें वर्तती हैं, अपने राम तो आकाशवत् निर्लेप हैं।' कहाँ तो आत्मज्ञानीकी स्थिति और कहाँ उसके द्वारा पापीका पाप-समर्थन! यह गीताका दूसरा दुरुपयोग है।

(३) कुछ लोग जो भक्तिका स्वांग धारण कर पाप बटोरना और इन्द्रियोंको अन्यायाचरणसे तृप्त करना चाहते हैं—यह श्लोक कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'अपना तो भगवान्के जन्म या लीलास्थानमें उनकी शरणमें पड़े रहनामात्र कर्तव्य है, उन्होंने स्पष्ट ही आज्ञा दे रक्खी है

कि सब धर्मों (सत्कर्मों) को छोड़कर मेरी शरण हो जाओ। पाप करते हो, उनके लिये कोई परवा नहीं, पापोंसे मैं आप ही छुड़ा दूँगा। तुम तो निश्चिन्त होकर मेरे दरवाजेपर चाहे जैसे भी पड़े रहो। इसलिये अपने तो यहाँ पड़े हैं, पाप छूटना तो हमारे हाथकी बात नहीं, और भगवान्‌के वचनानुसार छोड़नेकी ज़रूरत ही क्या है? दान-पुण्य, जप-तपका बखेड़ा ज़रूर छोड़ दिया है। भगवान् आप ही सँभालेगा।'

यह अर्थका अनर्थ और गीताका महान् दुरुपयोग है।

(४) कुछ लोग जिनका हृदय रागद्वेषसे भरा है। अन्तः-करण विषमताकी आगसे जल रहा है, पर अभक्ष्य-भक्षण और व्यभिचार आदिके समर्थनके लिये सारे भेदोंको मिटाकर परस्पर प्रेमस्थापन करना अपना सिद्धान्त बतलाते हुए गीताका श्लोक कहते हैं—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५। १८)

'जो पण्डित या ज्ञानी होते हैं वे विद्या और विनयशील

ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी, कुत्तेमें कोई भेद नहीं समझते, सबसे एक-सा व्यवहार करते हैं। भगवान्‌के कथनानुसार जब कुत्ते और ब्राह्मणमें भी भेद नहीं करना चाहिये तब मनुष्य-मनुष्यमें भेद कैसा?' परन्तु यह इस श्लोकके अर्थका सर्वथा विपरीतार्थ है। भगवान्‌ने इस श्लोकमें व्यावहारिक-भेदको विशेषरूपसे मानकर ही आत्मरूपमें सबमें समता देखनेकी बात कही है। इसमें 'समान व्यवहार' की बात कहीं नहीं है, बात है 'समान दर्शन' की। हमें आत्मरूपसे सबमें परमात्माको देखकर किसीसे भी घृणा नहीं करनी चाहिये, परन्तु सबके साथ एक-सा व्यवहार होना असम्भव है। इसीसे भगवान्‌ने कुत्ते, गौ और हाथीके दृष्टान्तसे पशुओंका और विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण तथा चाण्डालके दृष्टान्तसे मनुष्योंके व्यवहारका भेद सिद्ध किया है। राजा कुत्तेपर सवारी नहीं कर सकता। गौकी जगह कुतियाका दूध कोई काममें नहीं आता। परन्तु स्वार्थ-से विपरीत अर्थ किया जाता है। यह गीताका दुरुपयोग है।

(५) कुछ लोग *'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा'* का प्रमाण देकर केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय-जातिमें जन्म होनेके कारण ही अपनेको बड़ा और इतर वर्णोंको छोटा समझकर उनसे घृणा करते हैं, परन्तु वे यह नहीं सोचते कि भगवद्भक्तिमें सबका

समान अधिकार है और भगवान्‌की प्राप्ति भी उसीको पहले होती है जो सच्चे मनसे भगवान्‌का अनन्य भक्त होता है, इसमें जाति-पाँतिकी कोई विशेषता नहीं है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः॥
(भा० ७।९।१०)

पद्मपुराणका वाक्य है—

हरेरभक्तो विप्रोऽपि विज्ञेयः श्वपचाधिकः।
हरेर्भक्तः श्वपाकोऽपि विज्ञेयो ब्राह्मणाधिकः॥

ऐसी स्थितिमें केवल ऊँची जातिमें पैदा होनेमात्रसे ही अपनेको ऊँचा मानकर गीताके श्लोकके सहारे दूसरोंसे घृणा करना-कराना गीताका दुरुपयोग करना है।

(६) कुछ लोग जो गेरुआ कपड़ा पहनकर आलस्य या प्रमादवश कोई भी अच्छा कार्य न करके कर्तव्यहीन होकर मानव-जीवन व्यर्थ खो देते हैं, पूछनेपर कहते हैं 'हमारे लिये कोई

कर्तव्य नहीं है । भगवान्‌ने गीतामें साफ कह दिया है—'*तस्य कार्यं न विद्यते* ।' इससे हमारे लिये कोई कर्तव्य नहीं रह गया है, जबतक कोई कर्तव्य रहता है तबतक मनुष्य मुक्त नहीं माना जाता । कर्तव्योंका त्याग ही मुक्ति है ।' इसप्रकार जीवन्मुक्त त्यागी विरक्त महात्माके लिये प्रयुक्त गीताके शब्दोंका तामस कर्तव्यशून्यतामें प्रयोग करना अवश्य ही गीताका दुरुपयोग है ।

(७) कुछ लोग जो आसक्ति और भोग-सुखोंकी कामनावश रात-दिन प्रापञ्चिक कार्योंमें लगे रहते हैं, कभी भूलकर भी भगवान्‌का भजन नहीं करते, परन्तु भगवदीय साधनके लिये गृहस्थ त्यागकर संन्यास ग्रहण करनेवाले सन्तोंकी निन्दा करते हुए कहते हैं—'भगवान्‌ने गीतामें '*कर्मयोगो विशिष्यते*' कहकर कर्म ही करनेकी आज्ञा दी है । ये संन्यासी सब ढोंगी हैं, हम तो दिन-रात कर्म करके भगवान्‌की आज्ञा पालन करते हैं ।' इसप्रकार आसक्तिवश पाप-पुण्यके विचारसे रहित सांसारिक कर्मोंका समर्थन करनेमें गीताका सहारा लेकर त्यागियोंकी निन्दा करना और अपने विषयवासनायुक्त कर्मोंको उचित बतलाना, गीताका दुरुपयोग है ।

(८) कुछ लोग '*एवं प्रवर्तितं चक्रं*' श्लोकसे चरखा और '*ऊर्ध्वमूलमधःशाखं*' श्लोकसे शरीर-रचनाका अर्थ लगाकर मूल

यथार्थ भावके सम्बन्धमें जनताकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करते हैं। यह बुद्धिकी विलक्षणता और समयानुकूल अच्छे कार्यके लिये समर्थन होनेपर भी अर्थका अनर्थ करनेके कारण गीताका दुरुपयोग ही है।

गीता परमधामकी कुंजी है

और भी अनेक प्रकारसे गीताका दुरुपयोग हो रहा है। यहाँ थोड़ा-सा दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। सो भी साधकोंको सावधान करनेके लिये ही। भगवत्-प्राप्तिके साधकोंके लिये उपर्युक्त अर्थ कदापि माननीय नहीं हैं। उन्हें तो भगवान् शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्य और लोकमान्य तिलक आदिके बतलाये हुए अर्थके अनुसार अपने अधिकार और रुचिके अनुकूल मार्ग चुनकर भगवत्-प्राप्तिके लिये ही सतत प्रयत्न करना चाहिये। गीता वास्तवमें भगवान्के परम मन्दिरकी सिद्ध कुंजी है, इसका जो कोई उचित उपयोग करता है, वही अबाधित-रूपसे उस दरबारमें प्रवेश करनेका अधिकारी हो जाता है। किसी देश, वर्ण या जाति-पाँति-के लिये वहाँ कोई रुकावट नहीं है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

साधकोंको एक बातसे और भी सावधान रहना चाहिये। आजकलके बुद्धिवादी लोगोंमें कुछ सज्जन श्रीकृष्णको ही नहीं मानते, उनके विचारमें 'महाभारत रूपक ग्रन्थ है और भागवत कपोल-कल्पनामात्र। महाभारत काव्यके अन्तर्गत व्यासरचित गीता एक उत्तम लोकोपकारी रचना है।' यह वास्तवमें गीताका अपमान है। भगवान् श्रीकृष्णको न मानकर गीताको मानना, उससे आध्यात्मिक लाभ उठानेकी आशा रखना, प्राणहीन शरीरसे लाभ उठानेकी इच्छाके सदृश दुराशामात्र है। इसप्रकारके विचारोंसे साधकोंको सावधान रहना चाहिये। यह मानना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण गीताके हृदय हैं और भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके उपाय बतलाना ही गीताका उद्देश्य है। इसी उद्देश्यसे प्रेरित होकर जो लोग गीताका अध्ययन करते हैं, उन्हींको गीतासे यथार्थ लाभ पहुँचता है।

कुछ लोग गीताके श्रीकृष्णको निपुण तत्त्ववेत्ता, महायोगेश्वर, निर्भय योद्धा और अतुलनीय राजनीति-विशारद मानते हैं, परन्तु

भागवतके श्रीकृष्णको इसके विपरीत नचैया, भोगविलासपरायण, गाने-बजानेवाला और खिलाड़ी समझते हैं; इसीसे वे भागवतके श्रीकृष्णको नीची दृष्टिसे देखते हैं या उनका अस्वीकार करते हैं और गीताके या महाभारतके श्रीकृष्णको ऊँचा या आदर्श मानते हैं। वास्तवमें यह बात ठीक नहीं है। श्रीकृष्ण जो भागवतके हैं, वही महाभारत या गीताके हैं। एक ही भगवान्‌की भिन्न-भिन्न स्थलों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न लीलाएँ हैं। भागवतके श्रीकृष्णको भोगविलासपरायण और साधारण नचैया-गवैया समझना भारी भ्रम है। अवश्य ही भागवतकी लीलामें पवित्र और महान् दिव्य प्रेमकी लीला अधिक थी, परन्तु वहाँ भी ऐश्वर्य-लीलाकी कमी नहीं थी। असुर-वध, गोवर्द्धन-धारण, अग्नि-पान, वत्स-बालरूप-धारण आदि भगवान्‌की ईश्वरीय-लीलाएँ ही तो हैं। नवनीत-भक्षण, सखासह-विहार, गोपी-प्रेम आदि तो गोलोककी दिव्य लीलाएँ हैं, इसीसे कुछ भक्त भी वृन्दावनविहारी मुरलीधर रसराज प्रेममय भगवान् श्रीकृष्णकी ही उपासना करते हैं, उनकी मधुर भावनामें—

> कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः।
> वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति॥

—'यदुनन्दन श्रीकृष्ण दूसरे हैं और वृन्दावनविहारी पूर्ण श्रीकृष्ण दूसरे हैं। पूर्ण श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर कभी अन्यत्र गमन नहीं करते।' बात ठीक है—'*जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन देखी तैसी॥*' इसी प्रकार कुछ भक्त गीताके 'तोत्रवेत्रैकपाणि' योगेश्वर श्रीकृष्णके ही उपासक हैं। रुचिके अनुसार उपास्यदेवके स्वरूप-भेदमें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु जो लोग भागवत या महाभारतके श्रीकृष्णको वास्तवमें भिन्न-भिन्न मानते हैं या किसी एकका अस्वीकार करते हैं, उनकी बात कभी नहीं माननी चाहिये। महाभारतमें भागवतके और भागवतमें महाभारतके श्रीकृष्णके एक होनेके अनेक प्रमाण मिलते हैं। एक ही ग्रन्थकी एक बात मानना और दूसरीको मनके प्रतिकूल होनेके कारण न मानना वास्तवमें यथेच्छाचारके सिवा और कुछ भी नहीं है।

अतएव साधकोंको इन सारे बखेड़ोंसे अलग रहकर भगवान्‌को पहचानने और अपनेको 'सर्वभावेन' उनके चरणोंमें समर्पण कर शरणागत होकर उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गीता और प्रेम-तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भगवान्‌की शरणा-

गतिमें ही है । यही गीताका प्रेम-तत्त्व है । गीताकी भगवच्छरणागतिका ही दूसरा नाम प्रेम है । प्रेममय भगवान् अपने प्रियतम सखा अर्जुनको प्रेमके वश होकर वह मार्ग बतलाते हैं, जिसमें उसके लिये एक प्रेमके सिवा और कुछ करना बाकी रह ही नहीं जाता ।

कुछ लोगोंका कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेमका विषय नहीं है । परन्तु विचारकर देखनेपर मालूम होता है कि 'प्रेम' शब्दकी बाहरी पोशाक न रहनेपर भी गीताके अन्दर प्रेम ओत-प्रोत है । गीता भगवत्-प्रेम-रसका समुद्र है । प्रेम वास्तवमें बाहरकी चीज होती भी नहीं । वह तो हृदयका गुप्त धन है जो हृदयके लिये हृदयसे हृदयको ही मिलता है और हृदयसे ही किया जाता है । जो बाहर आता है वह तो प्रेमका बाहरी ढाँचा होता है । श्रीहनुमान्‌जी महाराज भगवान् श्रीरामका सन्देश श्रीसीताजीको इस प्रकार सुनाते हैं—

तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एक मन मोरा ॥
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं । जानेउ प्रीति रीति यहि माहीं ॥

प्रेम हृदयकी वस्तु है, इसीलिये वह गोपनीय है । गीतामें भी प्रेम गुप्त है । वीरवर अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णका सख्य-

प्रेम विश्व-विख्यात है। आहार-विहार, शय्या-क्रीडा, अन्तःपुर-दरबार, वन-प्रान्त-रणभूमि सभीमें दोनोंको हम एक साथ पाते हैं। जिस समय अग्निदेव अर्जुनके समीप खाण्डव-दाहके लिये अनुरोध करने आते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन जलविहार करनेके बाद प्रमुदित मनसे एक ही आसनपर बैठे हुए थे। जब सञ्जय भगवान् श्रीकृष्णके पास जाते हैं, तब उन्हें अर्जुनके साथ एक ही आसनपर अन्तःपुरमें द्रौपदी सत्यभामा-सहित विराजित पाते हैं। अर्जुन *'विहारशय्यासनभोजनेषु'* कहकर स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं।

अधिक क्या खाण्डववनका दाह कर चुकनेपर जब इन्द्र प्रसन्न होकर अर्जुनको दिव्यास्त्र प्रदान करनेका वचन देते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि 'देवराज! मुझे भी एक चीज़ दो और वह यह कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे—

'वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।'

अर्जुनके लिये भगवान् प्रेमकी भीख माँगते हैं! यही कारण था कि भगवान् अर्जुनका रथ हाँकने तकको तैयार हो गये। अर्जुनके प्रेमसे ही गीताशास्त्रकी अमृतधारा भगवान्‌के मुखसे बह

निकली । अर्जुनरूपी चन्द्रको पाकर ही चन्द्रकान्तमणिरूप श्रीकृष्ण द्रवित होकर वह निकले, जो गीताके रूपमें आज त्रिभुवनको पावन कर रहे हैं । इतना होनेपर भी गीतामें प्रेम न मानना दुराग्रहमात्र है । प्रेमका स्वरूप है—'प्रेमीके साथ अभिन्नता हो जाना' जो भगवान्‌में पूर्णरूपसे थी; इसीसे अर्जुनका प्रत्येक काम करनेके लिये भगवान् सदा तैयार थे । प्रेमका दूसरा स्वरूप है—'प्रेमीके सामने विना संकोच अपना हृदय खोलकर रख देना ।' वीरवर अर्जुन प्रेमके कारण ही निःसंकोच होकर भगवान्‌के सामने रो पड़े और स्पष्ट शब्दोंमें उन्होंने अपने हृदयकी बातें कह दीं । भगवान्‌की जगह दूसरा होता तो ऐसे शब्दोंमें, जिनमें वीरतापर धब्बा लग सकता था, अपने मनका भाव कभी नहीं प्रकट कर सकते । प्रेममें लल्लो-चप्पो नहीं होता, इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनके पाण्डित्य-पूर्ण परन्तु मोह-जनित विवेचनके लिये उन्हें फटकार दिया और युद्धस्थलमें, दोनों ओरकी सेनाओंके युद्धारम्भकी तैयारीके समय वह अमर ज्ञान गा डाला जो लाखों-करोड़ों वर्ष तपस्या करनेपर भी सुननेको नहीं मिलता । प्रेमके कारण ही भगवान् श्रीकृष्णने अपने महत्त्वकी बातें निःसंकोचरूपसे अर्जुनके सामने कह डालीं । प्रेमके कारण ही उन्हें विभूतियोग बतलाकर अपना विश्वरूप

दिखला दिया । नवम अध्यायके 'राजविद्या राजगुह्य' की प्रस्तावनाके अनुसार अन्तके श्लोकमें अपना महत्त्व बतला देने, दशम और एकादशमें विभूति और विश्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान करा देने और पन्द्रहवें अध्यायमें 'मैं पुरुषोत्तम हूँ' ऐसा स्पष्ट कह देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्‌की मायावश भलीभाँति उन्हें नहीं समझे, तब प्रेमके कारण ही अपना परम गुह्य रहस्य जो नवम अध्यायके अन्तमें इशारेसे कहा था, भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें सुना देते हैं। भगवान् कहते हैं 'मेरे प्यारे ! तू मेरा बड़ा प्यारा है, इसीसे भाई ! मैं अपना हृदय खोलकर तेरे सामने रखता हूँ, बड़े संकोचकी बात है, हर-एकके सामने नहीं कही जा सकती, सब प्रकारके गोपनीयोंमें भी परम गोपनीय (*सर्वगुह्यतम*) विषय है, ये मेरे अत्यन्त गुप्त रहस्यमय शब्द (*मे परमं वचः*) हैं, कई बार पहले कुछ संकेत कर चुका हूँ, अब फिर सुन (*भूयः शृणु*) बस, तेरे हितके लिये ही कहता हूँ (*ते हितं वक्ष्यामि*) क्योंकि इसीमें मेरा भी हित है। क्या कहूँ ? अपने मुँह ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, इससे आदर्श बिगड़ता है, लोकसंग्रह बिगड़ता है, परन्तु भाई ! तू मेरा अत्यन्त प्रिय है (*मे प्रियः असि*) तुझे क्या आवश्यकता है इतने झगड़े-बखेड़ेकी ? तू तो

केवल प्रेम कर। प्रेमके अन्तर्गत मन लगाना, भक्ति करना, पूजा और नमस्कार करना आप-से-आप आ जाता है, मैं भी यही कर रहा हूँ। अतएव भाई! तू भी मुझे अपना प्रेममय जीवनसखा मानकर मेरे ही मनवाला वन जा, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, मैं सत्य कहता हूँ, अरे भाई! शपथ खाता हूँ, ऐसा करनेसे तू और मैं एक ही हो जायँगे, (गीता १८। ६५) क्योंकि एकता ही प्रेमका फल है। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सिवा और कुछ भी नहीं जानता, किसीको नहीं पहचानता, उसका तो जीवन, प्राण, धर्म, कर्म, ईश्वर जो कुछ भी होता है सो सब प्रेमास्पद ही होता है, वह तो अपने आपको उसीपर न्योछावर कर देता है, तू सारी चिन्ता छोड़ दे (*मा शुचः*) धर्म-कर्मकी कुछ भी परवा न कर (*सर्वधर्मान् परित्यज्य*) केवल एक मुझ प्रेमस्वरूपके प्रेमका ही आश्रय ले ले (*मास् एकं शरणं व्रज*) प्रेमकी ज्वालामें तेरे सारे पाप-ताप भस्म हो जायँगे। तू मस्त हो जायगा।' यह प्रेमकी तन-मन लोक-परलोक-भुलावनी मस्ती ही तो प्रेमका स्वरूप है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति।
यत्प्राप्य न किञ्चित् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते

नोत्साही भवति। यज्ज्ञानान्मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। (नारद-भक्तिसूत्र)

'जिसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृतत्वको पा जाता है, सब तरहसे तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर फिर वह न अप्राप्त वस्तुको चाहता है, न *'गतासून् अगतासून्'* के लिये चिन्ता करता है न मनके विपरीत घटना या सिद्धान्तसे द्वेष करता है, न मनोनुकूल विषयोंमें आसक्त होता है और न प्यारेकी सुख-सेवाके सिवा अन्य कार्यमें उसका उत्साह होता है। वह तो बस, प्रेममें सदा मतवाला बना रहता है, वह स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है।' इस सुखके सामने उसको ब्रह्मानन्द भी गोष्पदके समान तुच्छ प्रतीत होता है (*सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्माण्यपि*)।

इस स्थितिमें उसका जीवन केवल प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके निमित्त उसकी रुचिके अनुसार कार्य करनेके लिये ही होता है। हजार मनके प्रतिकूल काम हो, प्रेमास्पदकी उसमें रुचि है, ऐसा जानते ही सारी प्रतिकूलता तत्काल सुखमय अनुकूलताके रूपमें परिणत हो जाती है। प्रेमास्पदकी रुचि ही उसके जीवनका स्वरूप बन जाता है। उसका जीवन-व्रत ही

होता है केवल 'प्रेमास्पदके सुखसे सुखी रहना (*तत्सुखसुखित्वम्*) यह इसीलिये जीवन धारण करता है। मेरा अवतारधारण भी इन अपने प्रेमास्पदोंके लिये ही है, इसीलिये—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकस एवायम्॥

—'तो मैं सर्वभूतोंका अन्तर्यामी प्रकृतिसे परे ज्ञानमय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म प्रेममय दिव्य देह धारण कर यदुकुलमें अवतीर्ण हुआ हूँ।'

भगवान्‌ने गीताके १८ वें अध्यायके ६४ वें से ६६ वें तक तीन श्लोकोंमें जो कुछ कहा, उसीका उपर्युक्त तात्पर्यार्थ है। प्रेमका यह मूर्तिमान् स्वरूप प्रकट तो कर दिया, परन्तु फिर भगवान् अर्जुनको सावधान करते हैं कि 'यह गुह्य रहस्य तपरहित, भक्तिरहित, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले और मुझमें दोष देखनेवालेके सामने कभी न कहना।' (गीता १८।६७) इस कथनमें भी प्रेम भरा है, तभी तो अपना गुह्य रहस्य कहकर फिर उसकी गुह्यताका महत्त्व अपने ही मुखसे बढ़ाते हुए भगवान् अर्जुनके सामने संकोच छोड़कर ऐसा कह देते हैं। इस अधिकारी-निरूपणका एक अभिप्राय यह है कि इस परम

तत्त्वको ग्रहण करनेवाले लोग संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े होते हैं (*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्*)। जिसका मन तपश्चर्यासे शुद्ध हो गया हो, जिसका अन्तःकरण भक्तिरूपी सूर्यकिरणोंसे नित्य प्रकाशित हो, जिसको इस प्रेमतत्त्वके जाननेकी सच्चे मनसे तीव्र उत्कण्ठा हो एवं जो भगवान्‌की महिमामें भूलकर भी सन्देह नहीं करता हो, वही इसका अधिकारी है। भगवान्‌की मधुर बाललीलामें भाग्यवती प्रातःस्मरणीया गोपियाँ इसकी अधिकारिणी थीं। इस रणलीलामें अर्जुन अधिकारी हैं। अनधिकारियोंके कारण ही आज गोपी-माधवकी पवित्र आध्यात्मिक प्रेमलीलाका आदर्श दूषित हो गया और उसका अनधिकार अनुकरण कर मनुष्य कठिन पाप-पंकमें फँस गये हैं। गोपियोंका जीवन भी '*तत्सुख-सुखित्वम्*' के भावमें रँगा हुआ था और इस प्रेमरहस्यका उद्घाटन होते ही अर्जुन भी इसी रंगमें रँगकर अपनी सारी प्रतिकूलताओंको भूल गये, भूल ही नहीं गये, सारी प्रतिकूलताएँ तुरन्त अनुकूलताके रूपमें परिवर्तित हो गयीं और वह आनन्दसे कह उठे—

करिष्ये वचनं तव

—'तुम जो कुछ चाहोगे, जो कुछ कहोगे, बस मैं वही करूँगा, वही मेरे जीवनका व्रत होगा।' इसीको अर्जुनने जीवन-

भर निवाहा। यही प्रेमतत्त्व है, यही शरणागति है। भगवान्‌की इच्छामें अपनी सारी इच्छाओंको मिला देना, भगवान्‌के भावोंमें अपने सारे भावोंको भुला देना, भगवान्‌के अस्तित्वमें, अपने अस्तित्वको सर्वथा मिटा देना, यही '*मामेकं शरणं*' है, यही प्रेम-तत्त्व है, यही गीताका रहस्य है। इसीसे गीताका पर्यवसान साकार भगवान्‌की शरणागतिमें समझा जाता है। इसी परम पावन परमानन्दमय लक्ष्यको सामने रखकर प्रेमपथपर अग्रसर होना गीताके साधककी साधना है। इसीसे कविके शब्दोंमें साधक पुकार कर कहता है—

एकै अभिलाख लाख लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न देव चराचरमें।
जासों मनु राँचै, तासों तनु मनु राँचै, रुचि-
भरिकै उघरि जाँचै, साँचै करि करमें॥
पाँचनके आगे आँच लगे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारेकी सती लौं बैठे सरमें।
प्रेमसों कहत कोऊ, ठाकुर, न पैंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहरे, तो पैठो प्रेम-घरमें॥१॥

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो नरलोक परलोक बरलोकनमें,
लीन्ही मैं अलीक, लोक-लीकनिते न्यारी हौं।
तन जाउ, मन जाउ, देव गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन-वारी बनवारीकी मुकुटवारी,
पीतपटवारी वहि मूरति पै वारी हौं॥२॥

तौक पहिरावौ, पाँव बेड़ी लै भरावौ, गाढ़े-
बन्धन बँधावौ औ खिंचावौ काची खालसौं।
विष लै पिलावौ, तापै मूठ भी चलावौ,
माँझधारमें डुबावौ बाँधि पत्थर 'कमाल' सौं॥
बिच्छू लै बिछावौ, तापै मोहि लै सुलावौ, फेरि,
आग भी लगावौ बाँधि कापड़-दुसाल सौं।
गिरिते गिरावौ, काले नागते डसावौ, हा! हा!-
प्रीति ना छुड़ावौ गिरिधारी नंदलालसौं॥३॥
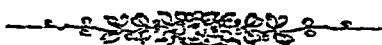
जीवकी तृप्ति कैसे हो ?

जीव सदा ही अतृप्त है । साधारण कीट-पतंगसे लेकर बड़े-बड़े सम्राट्‌तक सभी किसी-न-किसी अभावका अनुभव कर सदा दुखी रहते हैं। कोई कितनी भी सांसारिक सम्पत्तिका या कितने ही उच्च पदका अधिकारी क्यों न हो, अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट नहीं है, उसके हृदयमें किसी वस्तुकी कमी सदा खटकती है—वह कुछ और चाहता है । बड़े बड़े देवताओंकी भी यही दशा सुनी जाती है !

जहाँ अतृप्ति है, अभावकी वेदना है, वहीं चित्त चञ्चल और अशान्त है, जिसका चित्त अशान्त है वही दुखी है, '*अशान्तस्य कुतः सुखम् ।*'

यह अतृप्ति तबतक नहीं मिट सकती, जबतक कि जीव किसी ऐसी परम वस्तुको न प्राप्त कर ले, जिसकी सत्तासे समस्त अभावोंका सर्वथा अभाव हो जाता हो—जो पूर्ण हो । विवेकबुद्धि बतलाती है कि ऐसी परम वस्तु एक परमात्मा ही है, जो सदा

एकरस रहता है, उसके सिवा अन्य सभी वस्तुएँ किसी-न-किसी अभावसे युक्त—परिणामविनाशी हैं और प्रतिक्षण विनाशकी ओर अग्रसर हो रही हैं। ऐसी विनाशशील अपूर्ण वस्तुओंसे जीवका पूर्णकाम होना कभी सम्भव नहीं। इसीलिये जीव नित्य अतृप्त है और वह संसारकी सभी वस्तुओंको 'यह भी वह नहीं है' 'इसमें भी वह नहीं है' यों 'नेति नेति' कहता हुआ उनमें अपनी इच्छित वस्तु न पाकर स्वभावसे ही उस अभावरहित नित्य वस्तुकी ओर अग्रसर हो रहा है।

इतना होनेपर भी कभी-कभी भ्रमवश जीव संसारी पदार्थोंमें सुखकी कल्पना कर अपने लक्ष्यको भूल जाता है। ऐसे मनुष्य बहुत ही थोड़े हैं जो नचिकेता और प्रह्लादकी भाँति जगत्‌के समस्त प्रलोभनोंको पद-दलित कर पूर्णकी प्राप्तिके लिये बद्धपरिकर हो चुके हों। हजारोंमेंसे कोई एक इसप्रकार प्रयत्न करना चाहता है, वैसे हजारोंमें कोई एक प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवाले लोगोंमें भी कोई विरला ही शेषतक अपने लक्ष्यपर स्थिर रह सकता है। अधिकांश लोग तो अपने मतको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरोंकी निन्दा करने लगते हैं और दलबन्दीमें पड़कर लक्ष्यभ्रष्ट हो अपने ईश्वरका आप ही अपमान कर बैठते

हैं । अपने साधन-पथको सर्वश्रेष्ठ समझना बुरा नहीं है। साधकके लिये तो यह आवश्यक भी है, परन्तु दूसरेको हीन समझना बहुत बुरा है । आज दुनियाँमें जो इतने अधिक मत-मतान्तर और उनमें परस्पर विवाद, द्वेष, द्रोह वर्तमान हैं इसका प्रधान कारण यही है । नहीं तो, जब ईश्वर एक है, वह एक ही सृष्टिका रचयिता है, सम्पूर्ण जगत् उसीसे उत्पन्न है, वही एक सबका पालन करता है, फिर आपसमें लड़नेका क्या कारण ? एक ही पिताकी सन्तान होकर एक दूसरेको हीन बतलानेका क्या कारण ? कारण यही कि हमने अपने अज्ञानसे उस एककी जगह अनेक ईश्वरोंकी सृष्टि कर अपने ईश्वरको छोटा बना लिया है !

हिन्दुओंमें शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वेदान्ती, बौद्ध, जैन, सिख आदि अनेक मत हैं , इनमें भी भिन्न-भिन्न आचार्योंके अनुसार भिन्न-भिन्न अनेक सम्प्रदाय हैं । हिन्दुओंके सिवा मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि अनेक मत हैं । प्रत्यक्ष या परोक्ष भावसे प्रायः सभी ईश्वरको मानते हैं । देश, काल, प्रकृति, रुचि और अधिकार आदिके भेदसे मतोंमें, उनके बाहरी व्यवहारोंमें तथा उनकी उपासनापद्धतिमें भेद रहना

आश्चर्यकी बात नहीं है। यहाँ हमें किसी मतसे विरोध नहीं है, सभी मत रहें, अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते रहें परन्तु यह विवेक सबमें सर्वदा जाग्रत् रहना चाहिये कि हम सब भिन्न-भिन्न साधनोंसे उस एक ही परम साध्यकी ओर बढ़ रहे हैं, जिसको वैष्णव श्रीविष्णु या श्रीराम श्रीकृष्ण कहते हैं, शैव शिव, शाक्त दुर्गा, गाणपत्य गणेश, सौर सूर्य, वेदान्ती ब्रह्म, मुसलमान अल्लाह और ईसाई अंग्रेजीमें गॉड कहते हैं। उस एक ही चरम लक्ष्य स्थानतक पहुँचनेके भिन्न-भिन्न अनेक मार्ग हैं, जो रास्तेकी सुगमता, दुर्गमता और अपनी-अपनी गतिके अनुसार आगे-पीछे एक ही जगह पहुँचा देते हैं।

ऐसा न मानकर अपने-अपने ईश्वरको अलग माननेसे एककी जगह ईश्वर अनेक हो जाते हैं जिससे प्रत्येक ईश्वरकी सीमा परिमित हो जाती है! मान लीजिये, एक साधक धनुर्वाण-धारी भगवान् श्रीरामको ईश्वर मानता है, दूसरा वैष्णव बालरूप मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरको ईश्वर मानता है, तीसरे मुसलमानके मतसे ईश्वरका रूप मुसलमानके सदृश दाढ़ी-बदनाधारी है, चौथे यूरोपीय सज्जन ईश्वरको हैट-कोट-बूटधारी समझते हैं। ये चारों ही ईश्वरको मानते हैं, उनकी भक्ति करते हैं और उसे सर्वश्रेष्ठ समझकर उपासना करते हैं। क्या ये चारों ही वास्तवमें एक ही

ईश्वरकी भक्ति नहीं करते ? जब ईश्वर एक है तो भक्ति उस एकहीकी होती है परन्तु दूसरोंके ईश्वरको अपने ही ईश्वरका एक और रूप न माननेके कारण वह तत्त्वज्ञान-शून्य पूजा सर्वव्यापी ईश्वरकी न होकर सीमाबद्ध अल्पस्थल-व्यापीकी होती है। दूसरोंके ईश्वरको अपने ही ईश्वरका स्वरूप न माननेसे अपना ईश्वर अपनी ही मान्यतातक परिमित रह जाता है, क्योंकि दूसरे तो हमारे ईश्वरको मानते नहीं। परिणाममें हमारी ही अल्पज्ञतासे हम अपने ईश्वरको छोटे-से घेरेमें बन्दकर क्षुद्र बना देते हैं, जो एक तामसी कार्य ही होता है। धनुर्बाणधारी श्रीरामके सच्चे उपासकको अपने भावसे अपने इष्ट रूपकी उपासना करते हुए भी दूसरोंके द्वारा दूसरे रूपकी उपासना होते देखकर यह समझकर प्रसन्न होना चाहिये कि मेरे भगवान् श्रीरामकी कैसी अपार महिमा है कि जो भक्तकी भावनाके अनुसार कहीं श्याम-सुन्दर गोपाल बन जाते हैं तो कहीं जटाजूटधारी शिव बन जाते हैं, कहीं आकाशवत् सर्वव्यापी निरवयव बन जाते हैं तो कहीं दाढ़ी या हैट-कोटधारी बन जाते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य नामरूपोंके उपासकोंको भी मानना चाहिये। वास्तवमें बात भी यही है।

एक साध्वी पतिव्रता ब्राह्मणीके स्वामी बड़े विद्वान् और गुणी पुरुष थे। विद्वान्, शुद्ध और सदाचारी होनेके कारण नगरके अनेक श्रद्धालु लोगोंने उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। उनकी नेकचलनी और न्यायपरायणतासे संतुष्ट होकर सरकारने उन्हें मैजिष्ट्रेटके अधिकार दे दिये थे। वे बड़े अच्छे कथावाचक थे, प्रतिदिन रातको उनकी कथा होती थी, जिसमें हजारों नर-नारी सुनने आया करते थे। गरीब किसानों और दीन दुखियोंके साथ वे सच्ची सहानुभूति रखते थे, इससे हजारों गरीब उन्हें अपना रक्षक और पिता-सदृश समझने लगे थे। गाँव, घर, परिवार सबसे अच्छा बर्ताव होनेके कारण सभी अपने-अपने सम्बन्धके अनुसार उनको सम्बोधन कर उनका सम्मान करते थे। साध्वी स्त्री पतिकी एकान्तभावसे सदा सेवा किया करती थी और शिष्योंके द्वारा गुरुभावसे, सरकारी कर्मचारियोंके द्वारा उच्च अधिकारी भावसे, श्रोताओंके द्वारा पण्डित-भावसे, गरीबोंके द्वारा रक्षक-भावसे और घर-परिवारके लोगोंद्वारा सम्बन्धानुसार आत्मीय भावसे, यों भिन्न-भिन्न लोगोंद्वारा अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न भावोंसे अपने ही प्रियतम पतिको पूजित होते देखकर

वह बहुत प्रसन्न हुआ करती और पतिकी गुणावलीपर मुग्ध होकर उसमें अपना गौरव समझती। किसी भी भावसे पतिका सम्मान करनेवालेको वह अपने पतिका प्रेमी समझकर सबसे प्रेम किया करती। इसी प्रकार साधकको भी ईश्वरके सभी रूपोंको केवल अपने ही आराध्य इष्टदेवकी सच्ची प्रतिमूर्ति समझकर अपने इष्ट रूपकी अपनी भावनाके अनुसार ही उपासना करते हुए भी सबका सम्मान और सबसे प्रेम करना चाहिये।

जबतक यह समझ नहीं होती, तभीतक भ्रम है, झगड़ा है, द्वेष-द्रोह और वैर-विषाद है। इस ज्ञानकी उपलब्धि होते ही सारे झगड़े आप-से-आप निपट जाते हैं। सारे गहनोंका अधिष्ठान सोना एक है, केवल गहनोंके नाम, रूप और व्यवहारमें भेद है। बर्तनोंका अधिष्ठान मिट्टी एक है। नाम, रूपकी उपाधिसे व्यवहारमें भेद है। इसी प्रकार ईश्वर एक है, नाम, रूपके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सभी एक तत्त्व है। वाष्प ही जलकी बूँद बनती है फिर वह जल ही वाष्प बनकर निराकार आकाशमें रम जाता है।

जैसे एक ही व्यापक निराकार अग्नि वस्तुभेदसे भिन्न-भिन्न आकारोंमें व्यक्त होती है, उसी प्रकार एक ही अव्यक्तमूर्ति

सच्चिदानन्दघन परमात्मासे समस्त जगत् परिपूर्ण होनेपर भी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार वह सबको भिन्न-भिन्न रूपोंमें दीखता है। भगवान्‌का कोई भी रूप मिथ्या नहीं है। नाम, रूपसे अतीत परमात्मा सभी नाम-रूपोंमें नित्य सुप्रतिष्ठित है। सूत्रमें सूतकी मणियोंकी भाँति सबमें वही एक ओतप्रोत है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। भक्त उसके जिस रूपमें श्रद्धा करता है, वह उसे अपने उसी रूपमें पूर्णता प्राप्त करानेके लिये—अपना पूर्ण, सर्वथा अभावरहित, निरावरण मुखकमल-दर्शन करानेके लिये उसी रूपमें उसकी श्रद्धा अचल कर देता है। भक्तके लाभके लिये ही ऐसा होता है।

खेदकी बात तो यही है कि, हम लोग केवल बाहरी बातोंको ही तत्त्व समझकर उन्हींमें लगे रहते हैं, अन्दर प्रवेश ही नहीं करना चाहते। इसीसे ईश्वरके नामपर जगत्‌में लड़ाइयाँ होती हैं। किसी एक सम्प्रदायविशेषके नाम-रूपको ही सब कुछ मानकर अन्य समस्त सम्प्रदायोंके साधनोंके नाम-रूपमें तुच्छ बुद्धिकर, सम्पूर्ण साधनोंके परम तत्त्व, प्रायः सभी सम्प्रदायोंके आदि आचार्योंके चरमलक्ष्य एक शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माको भुलाकर, हम 'धनमानमदान्वित' और 'मोहजालसमावृत' हो,

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधादिका आश्रय लेकर सर्वभूतस्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करने लगते हैं, इसीलिये हम उस अभावरहित सच्चे सुखसे वञ्चित रहकर बारम्बार दुःख-दावानलमें दग्ध होते हुए मृत्युका शिकार बनते रहते हैं। यदि हम इस तत्त्वको समझ लें कि, 'सबके अन्दर एक ही ईश्वर है, सब उस एकसे ही उत्पन्न हैं और उस एककी ओर ही अविच्छिन्न गतिसे अग्रसर हो रहे हैं' तो फिर किसीका किसीसे कोई विरोध न रहे और अपने साधनमें सब सुखी हो रहें।

एक ही ईश्वरकी सन्तान होकर एक दूसरेको नष्ट-भ्रष्ट करनेकी चेष्टा हमारे अज्ञानको ही प्रकट करती है! भारतवर्षके अध्यात्मवादमें एकत्वका परम तत्त्व निहित है। 'समस्त अनेकतामें एकताका अनुभव करना ही भारतीय धर्मका ध्येय है।' भारतवासियोंको स्वयं अपने ध्येयकी ओर अग्रसर होकर जगत्के सामने क्रियारूपमें यह आदर्श रखना चाहिये, जिससे जगत् उस परम शान्ति और सुखके पथपर आरूढ हो, उस नित्य तृप्तिकर सुधाका आस्वादन कर सुखी हो सके!

अभिमान !

ओ अन्यायी अभिमान ! तैंने मुझे खूब छकाया, तेरे ही कारण मुझे बारम्बार नाना प्रकारके दुःख सहने पड़ते हैं। विद्याके रूपमें तैंने मुझे अनेक सत्पुरुषोंका तिरस्कार करनेके लिये बाध्य किया। फँसानेवाली विद्यासे रहित, लोगोंकी बाह्यदृष्टिमें अशिक्षित सच्चे तत्त्वज्ञानियोंकी शरणमें जाकर उनकी व्याकरणरहित विवेक-मयी सद्वाणी सुननेसे तैंने ही मुझे रोका। तैंने ही धनके रूपमें मुझसे बड़े-बड़े अनर्थ कराये। सरल अकिञ्चन भक्तजनोंकी सत्संगतिमें जानेसे मेरा अपमान होगा, इस भावनासे तैंने ही मुझे वहाँ नहीं जाने दिया। पद और उपाधिके रूपमें तैंने ही मेरी आँखें लाल रक्खीं। तैंने ही सौजन्यता, दया और नम्रताका हरण कर लिया। तैंने ही सन्त-समागमसे मुझे वञ्चित किया। मालिकीके रूपमें तैंने ही मुझे अपने सरलहृदय नौकरोंसे और गरीबोंसे दिल खोलकर निःसंकोच बातें नहीं करने दीं। जाति और वर्णके रूपमें तैंने ही मुझे अपनेसे छोटी कहलानेवाली जातिके अपने ही सरीखे मनुष्योंको पददलित कराया। राजा या शासकके रूपमें तैंने ही मुझसे रोती और बिलखती हुई भूखी प्रजापर अत्याचार करनेको बाध्य किया। जमींदारके रूपमें तैंने ही गरीब किसानोंपर मुझसे अमानुषिक अत्याचार करवाये। तैंने ही विलास-सामग्रियोंके संग्रहके लिये मुझे गरीबोंकी झोंपड़ियाँ जलाने और

उनका घर तहस-नहस करनेके लिये उत्साहित किया। पाण्डित्यके रूपमें तैंने ही मुझसे ईश्वरका खण्डन करवाकर महापापमें प्रवृत्त किया। तैंने ही शुष्क शास्त्रवितण्डामें भक्तिके अमीरससे मुझे अलग कर रक्खा। तैंने ही अक्खड़पनसे मुझे सबका द्रोही बनाया। माता, पिता, गुरुका अपमान तैंने ही करवाया। तेरे ही कारण मैंने सबको तुच्छ समझा। तुझीने मुझे लड़ाई उधार लेनेकी आदत सिखायी। तेरे ही कारण मैं दूसरोंकी सच्ची और हितकर बातें सुननेसे वञ्चित रहा। तेरी ही गुलामी स्वीकार करके मैंने झूठ, कपट और चोरीका आश्रय लिया। तेरे ही कारण मैंने लोगोंके सामने साधु और भक्त बनकर उन्हें धोखा दिया। तेरे ही कारण प्रेमका मिथ्या परिचय देकर मैंने सर्वान्तर्यामी परमात्माको ठगना चाहा। तेरे ही कारण मैंने भाँति-भाँतिके पाप कमाये। तैंने ही मुझे धर्मके पवित्र मार्गसे नीचे ढकेल दिया। तेरे ही कारण मुझे हरि-नाम-कीर्तनमें शरम आती है और हरि-कथा-श्रवणमें संकोच होता है। अरे! अभिन्न होनेपर भी तैंने ही मुझे परमात्मासे अलग कर रक्खा है। पापी! दूर हो यहाँसे! बहुत दिन हो गये, अब तो मेरा पिण्ड छोड़, जिससे हृदयमें अनन्त कालसे जलती हुई आगको परमात्म-रसकी अमृत-वृष्टिसे बुझाकर सुखी हो सकूँ!

सत्सङ्ग

तुलयाम लवेनापिं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

(भागवत १ । १८ । १३)

'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अङ्ग ।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्सङ्ग ॥

(रामचरितमानस)

परमात्माका नाम 'सत्' है और उसीके साथ नित्य सङ्ग करना 'सत्सङ्ग' कहलाता है, परन्तु परमात्माका सङ्ग सर्वदा अभिन्न रूपसे होते हुए भी जबतक हमारे अन्तरमें भ्रमका अस्तित्व है तबतक उसका प्रत्यक्ष होना बड़ा कठिन है। अथवा, तबतक हमें उसका सङ्ग नहीं प्राप्त होता जबतक कि हम अपने अनन्य प्रेमसे उस नित्य निरञ्जन परमात्माको इतना प्रसन्न न कर लें कि जिसके प्रभावसे हमारी इच्छानुकूल उसे साकार बनकर अपने दुर्लभ सङ्गसे हमें कृतार्थ करनेके लिये हमारे बीचमें आना पड़े! इस वास्तविक फलस्वरूप सत्सङ्गको प्राप्त करनेके लिये जो सर्वप्रथम और सुन्दर साधन है, उसको भी सत्सङ्ग ही कहते हैं। इस सत्सङ्गका अर्थ सत्पुरुषोंके साथ सङ्ग करना है। सत्पुरुष उनको कहते हैं जो उस सर्वव्यापी परमात्माके नित्य अस्तित्वमें अपने भिन्न माने हुए अनित्य अस्तित्वको सर्वथा विलीन कर चुके हैं अथवा जो उस 'सत्' परमात्माकी प्राप्तिके लिये अपने समस्त स्वजन-बान्धव और धन-सम्पत्तिका मोह त्यागकर और देह तथा कर्मोंका अभिमान छोड़कर निरन्तर उसीके गुण गाने और सुननेमें लगे रहते हैं, जिनका चित्त उस परमात्माके

चिन्तनमें ही लगा रहता है, जो सबके सुहृद्, सन्तोषी और सहनशील हैं, जो समस्त चराचरमें अपने एकमात्र इष्टदेवका ही दर्शन करते हैं, जो '*सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि युग पानी*'—समस्त जगत्को श्रीसीताराममय समझकर सबको प्रणाम करते हैं, जो एक आज्ञाकारी अनुगत सेवककी तरह सदा अपने स्वामी परमात्माकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सचेष्ट रहते हैं और जिनके विकसित मुखमण्डलमें, जिनके दिव्य हास्यमें और जिनकी सरल, स्पष्ट और तेजपूर्ण वाणीमें परमात्माकी एक विशेष विभूतिका दर्शन होता है, ऐसे सन्तोंका सङ्ग करना ही सत्सङ्ग कहलाता है।

जब साधक परमात्माकी नित्य कृपाका अनुभव कर उसके द्वारा सत्सङ्गकी स्पृहा करता है, और जब वह सन्त-मिलनके लिये व्याकुल हो उठता है, तब परमात्मा उसकी उत्कण्ठाको देखकर अपने किसी प्रिय भक्तको प्रेरित कर उसके समीप भेज देते हैं। परन्तु इस अवस्थामें भी साधक प्रायः सत्पुरुषको पहचाननेमें भूल कर बैठता है। अपनी सांसारिक दृष्टिके मोहमय तराजूपर वह उसे तौलना चाहता है और ऐसे तराजूमें उस बाह्याडम्बरशून्य

सन्तका पलड़ा अवश्य ही हलका रह जाता है। साधक उसके पलड़ेको हलका देखकर प्रायः अश्रद्धा करने लगता है, जिससे उसको तत्काल ही पूर्ण लाभ नहीं होता। पहले तो साधुका मिलना कठिन और दूसरे उसको पहचानना बड़ा कठिन है, परन्तु बिना पहचानके भी किया हुआ साधु-सङ्ग कदापि निष्फल नहीं जाता। सन्तके चिन्तन, दर्शन, स्पर्श और उसके साथ भाषणमात्रसे साधकका यथाधिकार कल्याण होता है। उस तेजपुञ्जसे निकले हुए पवित्र ज्योतिर्मय परमाणु जहाँपर पड़ते हैं वहींपर प्रकाश कर देते हैं। भगवान् नारद कहते हैं—

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च'

(नारदसूत्र ३९)

'महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

ऐसे महापुरुष ही परमात्माके अप्रतिम प्रभावको तत्त्वसे जानते हैं और इसीसे वे दिन-रात उसीके स्मरण, चिन्तनमें संलग्न रहते हैं। साधक भी ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे परमात्माके प्रभावको जान लेता है और प्रभाव जाननेपर उसमें प्रीति उत्पन्न होती है।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥

श्रीभगवान् कहते हैं—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
(भागवत ३।२५।२५)

'महात्माओंके सङ्गसे मेरे पराक्रमकी सूचक, हृदय और कानोंको तृप्त करनेवाली कथाएँ सुननेको मिलती हैं और उनके सुननेसे मोक्ष-मार्गमें शीघ्र ही श्रद्धा, भक्ति और प्रीति उत्पन्न होती है।' गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायके आचार्य पूज्यपाद श्रीचैतन्य महाप्रभुके एक शिष्यका नाम श्रीहरिदास था। श्रीहरिदास सच्चे 'हरि-दास' थे, चौबीसों घण्टे परमात्माका नाम-कीर्तन किया करते थे। कहते हैं उनके नाम-कीर्तनकी प्रतिदिनकी संख्या तीन लाखसे अधिक हो जाती थी। एक समय श्रीहरिदासजी घूमते-फिरते एक गाँवमें पहुँचे, वहाँके थानेदार साहेबने हरिनाम-ध्वनिसे घबड़ाकर उन्हें भ्रष्ट करनेके लिये एक परम रूपवती वेश्याको नियुक्त किया। वेश्या भली भाँति सज-धजकर श्रीहरिदासजीकी कुटियापर गयी। हरिदासजी नाम-कीर्तनमें मग्न थे। वेश्याने स्वाभाविक चेष्टा की, परन्तु उनका नाम-कीर्तन बन्द नहीं हुआ।

प्रातःकालसे कुछ पूर्व श्रीहरिदासजी उठे और वेश्याको देखकर बोले कि 'आज तो मुझे नाम-कीर्तनमें विलम्ब हो गया। यदि तुम रातको फिर आओ तो सम्भवतः मैं तुमसे बातें कर सकूँ।' इतना कहकर वे फिर अपने उसी काममें लग गये। वेश्याको बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने सोचा कि 'यह कैसा मनुष्य है जो मेरे इस 'जग-लुभावने' रूपको देखकर भी स्थिर रह सकता है? इसके चेहरेपर कोई विकार दिखायी नहीं देता; खैर, आज न सही, कहाँ जायगा?' वेश्या लौट गयी और रातको फिर दूने उत्साहसे सुसज्जित होकर आयी। आज उसने विशेषरूपसे प्रयत्न किया, परन्तु हरिदासजीका वही ढंग रहा। अनेक प्रकारकी चेष्टा करते-करते रात बीत गयी, वेश्याके उत्साहमें बड़ा धक्का लगा, उसके चेहरेपर निराशा-सी छा गयी। श्रीहरिदासजी उठे और उन्होंने फिर वही कलवाले शब्द सुना दिये। वेश्या दुःख, आश्चर्य और झुँझलाहटमें भरी हुई घर लौट गयी, परन्तु लोगोंके उत्साह दिलानेपर तीसरी रातको वह फिर हरिदासजीकी कुटियापर पहुँची। आज उसने अपनी सारी शक्ति लगाकर हरिदासजीको डिगानेका निश्चय कर लिया। बड़ी-बड़ी चेष्टाएँ कीं, विविध प्रकारसे हाव-

भाव दिखलाकर हार गयी, परन्तु वहाँ तो वही 'सूरदासकी कारी कमरिया चढ़े न दूजो रङ्ग' वाली बात थी। हरिदासजी टस्से मस् नहीं हुए। नाम-कीर्तन ज्यों-का-त्यों जारी रहा। वेश्या बड़े ही आश्चर्यसे विचार करने लगी कि 'हो-न-हो इस साधुको कोई ऐसा अनोखा परम सुन्दर पदार्थ प्राप्त है जिसके सामने मेरा यह रूप सर्वथा तुच्छ है, नहीं तो इसकी क्या मजाल थी कि मेरी इस ज़ोरसे जलती हुई रूपकी अग्निमें यह पतङ्ग होकर न पड़ जाता? मैंने भी आजतक अनेक एक-से-एक बढ़कर सुन्दर रूप देखे हैं परन्तु ऐसा कोई रूप आजतक नहीं देखा जिसने इस फ़क़ीर-की तरह मुझको पागल बना दिया हो।'

सन्तके एक क्षणके सङ्गसे ही विवेककी विमल ज्योति उत्पन्न हो जाती है, यहाँ तो तीन रात बीत चुकी थी, सन्तका अमोघ सङ्ग तथा साथ-साथ श्रीहरिनाम-श्रवणका फल भी था। वेश्याके हृदयमें विवेक जागृत हुआ, पाप-तापका नाश हो गया, साधुके मूक-सङ्गसे उसने परमात्माका प्रभाव जाना और अपने मनमें सोचने लगी कि ऐसा परम मनोहर रूप भला किसका

होगा ! सुना है, श्रीकृष्णका रूप अत्यन्त सुन्दर है, वह अपनी जोड़ी नहीं रखता। सम्भवतः इस फकीरको भी उसीका रूप दिखलायी पड़ता हो। बात ठीक थी ! श्रीहरिदासजी उसी जन-मन-मोहिनी 'साँवली-सूरति' पर मस्त थे। सत्य है, जो एक बार उस अनूप-रूपको एक क्षणभरके लिये भी देख लेता है, वह अपने मनको सदाके लिये खो बैठता है। संसारके एक-एक साधारण रूपपर लोग मोहित हो जाते हैं, परन्तु जो इन सारे रूपोंका मूल है, जगत्‌के समस्त रूप जिस महान् रूप-राशिका एक क्षुद्र अंश हैं, उस रूप-राशिको निरख कर कौन ऐसा है जो पागल न हो जाय ! महाराज विदेह भी जिस '*कोटि मनोज लजावनहारे*' रूपको देखकर चकित हो गये थे—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ विदेह विदेह विशेखी॥

और वे विश्वामित्रजीसे कहने लगे थे कि—

सहज विरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥
इनहिं विलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥

आज परम भाग्यवती वेश्याके मनमें भी उसी 'मधुर' मनोहर

मूरतिको देखनेकी लालसा उत्पन्न हुई, उसने दौड़कर सरल भाव-से श्रीहरिदासजीके चरण पकड़ लिये और कहा कि 'प्रभो ! मैं आपका सर्वनाश करनेके लिये आयी थी, परन्तु आपकी इस 'अनोखी मस्ती' ने तो मुझे भी 'सर्वनाशसे बचा लिया'। अब आप दया करके मुझे आपके उस 'परम सुन्दर' का दर्शन कराइये कि जिसको देखकर आपने इस प्रकार जगत्की सारी सुन्दरताकी उपेक्षा कर अपनेको मस्त बना लिया है।' सत्सङ्गका अमोघ फल हुआ। श्रीहरिदासजीने अपना आसन और अपनी पवित्र माला उसे दे दी और कहा कि 'गाँवमें जाकर अपनी सारी सम्पत्ति गरीबोंको लुटा दो और आकर यहींपर बैठ जाओ तथा इसी प्रकार हरिनाम-कीर्तनकी धुन लगा दो ! स्वयं पावन होओ और जगत्को पावन करो। इसीसे तुम उस मेरे 'परम सुन्दर' का अतुल सौन्दर्य देखकर कृतार्थ हो सकोगी।' इस तरह वेश्याको—अपना तप नाश करनेके लिये आनेवाली दुराचारिणी वेश्याको 'भक्ति और भक्तिका बाना' देकर सन्त हरिदासजी वहाँसे चल दिये। वेश्या उस 'परम सुन्दर'के दर्शन पाकर धन्य हुई और उसने अपनी भक्तिके प्रतापसे अनेक पामर पुरुषोंका परित्राण किया !

यह है सत्सङ्गका अव्यर्थ प्रताप, यह है बिना जाने और बुरी नीयतसे की हुई सत्सङ्गका एक अमोघ फल और यह है भगवद्भक्तोंकी महिमाका एक ज्वलन्त उदाहरण !

भगवान् नारदने कहा है—

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥'

(नारदसूत्र ४१)

उस (भगवान्) में और उसके भक्तोंमें कुछ भी भेद नहीं है, वरं कई बातोंमें तो 'भक्त अपने भगवान्से बढ़े हुए हैं ! भगवान्की महिमाका विस्तार भक्त ही तो किया करते हैं !

मोरे मन प्रभु अस बिसवासा। रामते अधिक राम कर दासा ॥

इसीलिये श्रीनारदजीने पुकारकर कहा है कि—

'तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥'

(नारदसूत्र ४२)

उसी (साधुसङ्ग) की साधना करो, उसीकी साधना करो !

उपर्युक्त विवेचनसे यह पता लगा होगा कि सत्सङ्ग ही

परमात्माका दर्शन करवा देनेमें एक प्रधान साधन है। एक क्षण-भरका सत्सङ्ग भी बड़े भारी भयसे उबारकर भगवान्‌की प्राप्तिके कल्याणमय मार्गपर ला पहुँचाता है। जिन लोगोंने सत्सङ्गका आश्रय ग्रहण कर लिया है वे धन्य हैं! सत्सङ्गकी शरण लेनेवाले भक्तोंका भार उस 'सत्' परमात्मापर पड़ जाता है। अतएव दुःसङ्गसे सर्वथा बचकर यथासाध्य सत्सङ्गका सेवन करना चाहिये। यदि खोज करनेपर भी साधु-महात्माओंके दर्शन न हों तो उपनिषद्, श्रीगीताजी, योगदर्शन और गो० तुलसीदासजीकी रामायण आदि सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना चाहिये। यह भी सत्सङ्ग है। किसी धर्म-स्थानमें बैठकर परस्पर हरि-चर्चा करना, हरि-गुण-गान और श्रवण करना तथा श्रीहरिनाम-संकीर्तन करना भी सत्सङ्ग ही है। जनता सत्सङ्गकी ओर जितनी अधिक झुकेगी उतना ही जगत्‌का मङ्गल है। अतएव हम सबको सत्सङ्गमें लगने और दूसरोंको लगानेके लिये चेष्टा करनी चाहिये। भगवत्-प्राप्ति चाहनेवालोंके लिये तो यही सबसे पहला और उत्तम साधन है।

गीतामें व्यक्तोपासना

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रभु श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। जगत्में इसकी जोड़ीका कोई भी शास्त्र नहीं। सभी श्रेणीके लोग इसमेंसे अपने-अपने अधिकारानुसार भगवत्-प्राप्तिके सुगम साधन प्राप्त कर सकते हैं। इसमें सभी मुख्य-मुख्य साधनोंका विशद वर्णन है, परन्तु कोई भी एक दूसरेका विरोधी नहीं है। सभी परस्पर सहायक हैं। ऐसा सामञ्जस्यपूर्ण ग्रन्थ केवल गीता ही है। कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीन प्रधान सिद्धान्तोंकी जैसी उदार, पूर्ण, निर्मल, उज्ज्वल, सरल एवं अन्तर और बाह्य लक्षणोंसे युक्त हृदयस्पर्शी सुन्दर व्यावहारिक

व्याख्या इस ग्रन्थमें मिलती है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं । प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार किसी एक मार्गपर आरूढ़ होकर अनायास ही अपने चरम लक्ष्यतक पहुँच सकता है । श्रीमद्भगवद्गीताको हम 'निष्काम कर्मयोगयुक्त भक्तिप्रधान ज्ञानपूर्ण अध्यात्मशास्त्र' कह सकते हैं। यह सभी प्रकारके मार्गोंमें संरक्षक, सहायक, मार्गदर्शक, प्रकाशदाता और पवित्र पाथेयका प्रत्यक्ष व्यावहारिक काम दे सकता है । गीताके प्रत्येक साधनमें कुछ ऐसे दोषनाशक प्रयोग बतलाये गये हैं जिनका उपयोग करनेसे दोष समूल नष्ट होकर साधन सर्वथा शुद्ध और उपादेय बन जाता है । इसीलिये गीताका कर्म, गीताका ज्ञान, गीताका ध्यान और गीताकी भक्ति सभी सर्वथा पापशून्य, दोषरहित, पवित्र और पूर्ण हैं । किसीमें भी तनिक पोलको गुंजाइश नहीं ।

गीताके बारहवें अध्यायका नाम भक्तियोग है, इसमें कुल बीस श्लोक हैं । पहिले श्लोकमें भक्तवर अर्जुनका प्रश्न है और शेष उन्नीस श्लोकोंमें भगवान् उसका उत्तर देते हैं । इनमें प्रथम ११ श्लोकोंमें तो भगवान्के व्यक्त (साकार) और अव्यक्त (निराकार) स्वरूपके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय किया गया है एवं भगवत्-प्राप्तिके कुछ उपाय बतलाये गये हैं । अगले आठ

श्लोकोंमें परमात्माके परम प्रिय भक्तोंके स्वाभाविक लक्षणोंका वर्णन है।

भगवान्‌ने कृपापूर्वक अर्जुनको दिव्य चक्षु प्रदानकर अपना विराट् स्वरूप दिखलाया, उस विकराल कालस्वरूपको देखकर अर्जुनके घबराकर प्रार्थना करनेपर अपने चतुर्भुज रूपके दर्शन कराये, तदनन्तर मनुष्य-देह-धारी सौम्य रसिकशेखर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णरूप दिखाकर उनके चित्तमें प्रादुर्भूत हुए भय और अशान्तिका नाश कर उन्हें सुखी किया। इस प्रसंगमें भगवान्‌ने अपने विराट् और चतुर्भुज-स्वरूपकी महिमा गाते हुए इनके दर्शन प्राप्त करनेवाले अर्जुनके प्रेमकी प्रशंसा की और कहा कि 'मेरे इन स्वरूपोंको प्रत्यक्ष नेत्रोंद्वारा देखना, इनके तत्त्वको समझना और इनमें प्रवेश करना केवल 'अनन्यभक्ति' से ही सम्भव है।' इसके बाद अनन्यभक्तिका स्वरूप और उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवान्‌ने अपना वक्तव्य समाप्त किया। एकादश अध्याय यहीं पूरा हो गया। अर्जुन अबतक भगवान्‌के अव्यक्त और व्यक्त दोनों ही स्वरूपोंकी और दोनोंके ही उपासकोंकी प्रशंसा और दोनोंसे ही परमधामकी प्राप्ति होनेकी बात सुन चुके हैं। अब वे इस सम्बन्धमें एक स्थिर निश्चयात्मक सिद्धान्त-वाक्य

सुनना चाहते हैं, अतएव उन्होंने विनम्र शब्दोंमें भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए पूछा—

> एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
> ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥
>
> (गीता १२ । १)

'हे नाथ ! जो अनन्यभक्त आपके द्वारा कथित विधिके अनुसार निरन्तर मन लगाकर आप व्यक्त–साकाररूप मनमोहन श्यामसुन्दरकी उपासना करते हैं, एवं जो अविनाशी सच्चिदानन्द-घन अव्यक्त–निराकाररूपकी उपासना करते हैं, इन दोनोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?' प्रश्न स्पष्ट है–अर्जुन कहते हैं, आपने अपने व्यक्त रूपकी दुर्लभता बताकर केवल अनन्यभक्तिसे ही उस रूपके प्रत्यक्ष दर्शन, उसका तत्त्वज्ञान और उसमें एकत्व प्राप्त करना सम्भव बतलाया तथा फिर उस अनन्यताके लक्षण बतलाये । परन्तु इससे पहले आप कई बार अपने अव्यक्तोपासकोंकी भी प्रशंसा कर चुके हैं, अब आप निर्णयपूर्वक एक निश्चित मत बतलाइये कि इन दोनों प्रकारकी उपासना करनेवालोंमें श्रेष्ठ कौन हैं ? भगवान्‌ने उत्तरमें कहा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२।२)

'हे अर्जुन! जो मुझ साकाररूप परमेश्वरमें मन लगाकर निश्चल परम श्रद्धासे युक्त हो निरन्तर मेरी ही उपासनामें लगे रहते हैं, मेरे मतसे वे ही परम उत्तम योगी हैं।' उत्तर भी स्पष्ट है—भगवान् कहते हैं, मेरे द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार मुझमें निरन्तर चित्त एकाग्र करके जो परम श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं, मेरे मतमें वे ही श्रेष्ठ हैं।

यहाँ प्रथम श्लोकके 'त्वां' और इस श्लोकके 'मां' शब्द अव्यक्त—निराकार-वाचक न होकर साकार-वाचक ही हैं। क्योंकि अगले श्लोकोंमें अव्यक्तोपासनाका स्पष्ट वर्णन है, जो 'तु' शब्दसे इससे सर्वथा पृथक् कर दिया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌के मतमें उनके साकाररूपके उपासक ही अतिश्रेष्ठ योगी हैं एवं एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोकके अनुसार उनको भगवत्-प्राप्ति होना निश्चित है। परन्तु इससे कोई यह न समझे कि अव्यक्तोपासना निम्न-श्रेणीकी है या उन्हें

भगवत्प्राप्ति नहीं होती। इसी भ्रमकी सम्भावनाको सर्वथा मिटा देनेके लिये भगवान् स्वयमेव कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(गीता १२। ३-४)

'समस्त इन्द्रियोंको वशमें करके, सर्वत्र समबुद्धिसम्पन्न हो, जीवमात्रके हितमें रत हुए, जो पुरुष अचिन्त्य (मन, बुद्धिसे परे) सर्वत्रग (सर्वव्यापी) अनिर्देश्य (अकथनीय) कूटस्थ (नित्य एकरस) ध्रुव (नित्य) अचल, अव्यक्त (निराकार) अक्षर ब्रह्मस्वरूपकी निरन्तर उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस कथनसे यह निश्चय हो गया कि दोनों ही उपासनाओंका फल एक है, तो फिर अव्यक्तोपासकसे व्यक्तोपासकको उत्तम क्यों बतलाया? क्या बिना ही कारण भगवान्‌ने ऐसी बात कह दी? क्या मन्दबुद्धि मुमुक्षुओंको उनकी सगुणोपासनाकी प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिये उन्हें युक्ततम बतला दिया, या उन्हें उत्साही

बनाये रखनेके लिये व्यक्तोपासनाकी रोचक स्तुति कर दी अथवा अर्जुनको साकारका मन्द अधिकारी समझकर उसीके लिये व्यक्तोपासनाको श्रेष्ठ करार दे दिया ? भगवान्का क्या अभिप्राय था यह तो भगवान् ही जानें, परन्तु मेरा मन तो यही कहता है कि भगवान्ने जहाँपर जो कुछ कहा है सो सभी यथार्थ है, उनके शब्दोंमें रोचक-भयानककी कल्पना करना कदापि उचित नहीं, भगवान्ने न तो किसीकी अयथार्थ स्तुति की है और न अयथार्थ किसीको कोसा ही है। यहाँ भगवान्ने जो साकारोपासककी श्रेष्ठता बतलायी है, उसका कारण भी भगवान्ने अगले तीन श्लोकोंमें स्पष्ट कर दिया है—

> क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
> अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
>
> (गीता १२ । ५)

'जिनका मन तो अव्यक्तकी ओर आसक्त है परन्तु जिनके हृदयमें देहाभिमान बना हुआ है ऐसे लोगोंके लिये अव्यक्त ब्रह्मकी उपासनामें चित्त टिकाना विशेष क्लेशसाध्य है, वास्तवमें निराकारकी गति दुःखपूर्वक ही प्राप्त होती है।'

भगवान्‌के साकार—व्यक्तस्वरूपमें एक आधार रहता है, जिसका सहारा लेकर ही कोई साधन-मार्गपर आरूढ़ हो सकता है, परन्तु निराकारका साधक तो विना केवटकी नावकी भाँति निराधार अपने ही वलपर चलता है। अपार संसार-सागरमें विषय-वासनाकी भीपण तरंगोंसे तरीको वचाना, भोगोंके प्रचण्ड तूफ़ानसे नावकी रक्षा करना और विना किसी मददगारके लक्ष्यपर स्थिर रहते हुए आप ही डाँड़ चलाते जाना वड़ा ही कठिन कार्य है। परन्तु इसके विपरीत भगवान् कहते हैं कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेपामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२।६-७)

—'जो लोग मेरे (भगवान्‌के) परायण होकर, मुझको ही अपनी परम गति, परम आश्रय, परम शक्ति और परम लक्ष्य मानते हुए सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके मुझ साकार ईश्वरकी अनन्ययोगसे निरन्तर उपासना करते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले भक्तोंको मृत्युशील संसार-सागरसे वहुत ही शीघ्र सुखपूर्वक

मैं पार कर देता हूँ।' उनको न तो अनन्त अम्बुधिकी क्षुब्ध उत्ताल तरंगोंका भय है, और न भीषण झञ्झावातके आघातसे नौकाके ध्वंस होने या डूबनेका ही डर है। वे तो बस, मेरी कृपासे आच्छादित सुन्दर सुसज्जित दृढ़ 'बजरे' में बैठकर केवल सर्वात्मभावसे मेरी ओर निर्निमेष-दृष्टिसे ताकते रहें, मेरी लीलाएँ देख-देखकर प्रफुल्लित होते रहें, मेरी वंशीध्वनि सुन-सुनकर आनन्दमें डूबते रहें, उनकी नावका खेवनहार केवट बनकर मैं उन्हें 'नचिरात्' इसी जन्ममें अपने हाथों डाँड़ चलाकर संसार-सागरके उस पार परम धाममें पहुँचा दूँगा।

जो भाग्यवान् भक्त भगवान्‌के इन वचनोंपर विश्वास कर समस्त शक्तियोंके आधार, सम्पूर्ण ज्ञानके भाण्डार, अखिल ऐश्वर्य-के आकर, सौन्दर्य, प्रभुत्व, बल और प्रेमके अनन्त निधि उस परमात्माको अपनी जीवन-नौकाका खेवनहार बना लेता है, जो अपनी बाँह उसे पकड़ा देता है, उसके अनायास ही पार उतरने-में कोई खटका कैसे रह सकता है? उसको न तो नावके टकराने, टूटने और डूबनेका भय है, न चलानेका कष्ट है और न पार पहुँचनेमें तनिक-सा सन्देह ही है।

पार तो अव्यक्तोपासक भी पहुँचता है, परन्तु उसका मार्ग कठिन है। इसप्रकार दोनोंका फल एक ही होनेके कारण सुगमताकी वजहसे यदि भगवान्‌ने अव्यक्तोपासककी अपेक्षा व्यक्तोपासकको श्रेष्ठ या योगवित्तम बतलाया तो उनका ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है, परन्तु बात इतनी ही नहीं है। सरलता-कठिनता तो उपासनाकी है, इससे उपासकमें उत्तम-मध्यमका भेद क्यों होने लगा ? फिर व्यक्तोपासक केवल उत्तम ही नहीं, 'योगवित्तम' है, योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ है। उपासनाकी सुगमताके कारण आरामकी इच्छासे कठिन मार्गको त्यागकर सरल-का ग्रहण करनेवाला श्रेष्ठ योगवेत्ता कैसे हो गया ? अवश्य ही इसमें कोई रहस्य छिपा हुआ होना चाहिये और वह यह है—

अव्यक्तोपासक उपासनाके फलस्वरूप अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु व्यक्तोपासकके तो त्रिभुवन-मोहन साकार-रूप-धारी भगवान् आरम्भसे ही साथ रहते हैं। अव्यक्तोपासक अपनी '*अहं ब्रह्मास्मि*' की ज्ञान-नौकापर सवार होकर यदि मार्गके अहंकार, मान, लोकेषणा आदि विघ्नोंसे बचकर आगे बढ़ पाता है, तो अन्तमें संसार-सागरके पार पहुँच जाता है। परन्तु व्यक्तोपासक तो पहलेसे ही भगवान्‌की कृपा-

रूपी नौकापर सवार होता है और भगवान् स्वयं उसे खेकर पार करते हैं। नौकापर सवार होते ही उसे केवट कृष्णका साथ मिल जाता है। पार पहुँचनेके बाद तो (अव्यक्तोपासक और व्यक्तोपासक) दोनोंके आनन्दकी स्थिति समान है ही, परन्तु व्यक्तोपासक तो मार्गमें भी पल-पलमें परम कारुणिक मोहनकी माधुरी मूर्तिके देवदुर्लभ दर्शनकर पुलकित होता है, उसे उनकी मधुर वाणी, विश्व-विमोहिनी वंशीकी ध्वनि सुननेको एवं उनकी सुन्दर और शक्तिमयी क्रियाएँ देखनेको मिलती हैं। वह निश्चिन्त बैठा हुआ उनके दिव्य स्वरूप और उनकी लीलाका मज़ा लूटता है। इसके सिवा एक महत्त्वकी बात और होती है। भगवान् किस मार्गसे क्योंकर नौका चलाते हैं वह इस बातको भी ध्यान-पूर्वक देखता है, जिससे वह भी परम धामके इस सुगम मार्गको और भव-तारण-कलाको सीख जाता है। ऐसे तारण-कलामें निपुण विश्वासपात्र भक्तको यदि भगवान् कृपापूर्वक अपने परम धामका अधिकारी स्वीकार कर और जगत्‌के लोगोंको तारनेका अधिकार देकर, अपने कार्यमें सहायक बनने या अपनी लोक-कल्याण-कारिणी लीलामें सम्मिलित रखनेके लिये नौका देकर वापस संसारमें भेज देते हैं तो वह मुक्त हुआ भी भगवान्‌की ही भाँति

जगत्के यथार्थ हितका कार्य करता है और एक चतुर विश्वास-पात्र सेवककी भाँति भगवान्के लीला-कार्यमें भी साथ रहता है। ऐसी ही स्थितिके महापुरुष कारक बनकर जगत्में आविर्भूत हुआ करते हैं। अव्यक्तोपासक परम धाममें पहुँचकर मुक्त हो वहीं रह जाते हैं, वे परमात्मामें घुल-मिलकर एक हो जाते हैं, वे वहाँसे वापस लौट ही नहीं सकते। इससे न तो उन्हें परम धाम जानेके मार्गमें साकार भगवान्का संग, उनके दर्शन, उनके साथ वार्तालाप और उनकी लीला देखनेका आनन्द मिलता है और न वे परम धामके पट्टेदार होकर सगुण भगवान्की लीलामें सम्मिलित हो उन्हींकी भाँति निपुण नाविक बनकर वापस ही आते हैं। *'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'* के अनुसार उनके बुद्धि आदि करण जो उनको दिव्यधाममें छोड़कर वहाँसे वापस लौटते हैं, वे भी साधकोंके सामने अव्यक्तोपासना-पथके उन्हीं नाना प्रकारके क्लेशोंके दृश्य रखकर परम धामकी प्राप्तिको ऐसी कष्टसाध्य और दुःखलभ्य बता देते हैं कि लोग उसे सुनकर ही काँप जाते हैं। उनका वैसे दृश्य सामने रखना ठीक ही है, क्योंकि उन्होंने अव्यक्तोपासनाके कण्टकाकीर्ण मार्गमें वही देखे हैं। उन्हें प्रेममय श्यामसुन्दरके सलोने मुखड़ेका तो कभी दर्शन

हुआ ही नहीं, उन्हें वह सौन्दर्य-सुधा कभी नसीब ही नहीं हुई, तब वे उस दिव्य रसका स्वाद लोगोंको कैसे चखाते? इसके विपरीत व्यक्तोपासक अपनी मुक्तिको भगवान्‌के खजानेमें धरोहरके रूपमें रखकर उनकी मंगलमयी आज्ञासे पुनः संसारमें आते हैं और भगवत्-प्रेमके परम आनन्द-रस-समुद्रमें निमग्न हुए, देहाभिमानी होनेपर भी भगवान्‌के मंगलमय मनोहर साकाररूपमें एकान्तभावसे मनको एकाग्र करके उन्हींके लिये सर्व कर्म करनेवाले असंख्य लोगोंको दृढ़ और सुखपूर्ण नौकाओंपर चढ़ा-चढ़ाकर संसारसे पार उतार देते हैं। यहाँ कोई यह कहे कि 'जैसे निराकारोपासक साकारके दर्शन और उनकी लीलाके आनन्दसे वञ्चित रहते हैं, वैसे ही साकारके उपासक ब्रह्मानन्दसे वञ्चित रहते होंगे। उन्हें परमात्माका तत्त्वज्ञान नहीं होता होगा।' परन्तु यह बात नहीं है। निरे निराकारोपासक अपने बलसे जिस तत्त्वज्ञानको प्राप्त करते हैं, भगवान्‌के प्रेमी साकारोपासकोंको वही तत्त्वज्ञान भगवत्-कृपासे मिल जाता है। भक्तराज ध्रुवजीका इतिहास प्रसिद्ध है। ध्रुव व्यक्तोपासक थे, 'पद्म-पलाश-लोचन' नारायणको आँखोंसे देखना चाहते थे। उनके प्रेमके प्रभावसे परमात्मा श्रीनारायण प्रकट हुए और अपना दिव्य शंख कपोलोंसे

स्पर्श कराकर उन्हें उसी क्षण परम तत्त्वज्ञ बना दिया। इससे सिद्ध है कि व्यक्तोपासकको अव्यक्तोपासकोंका ध्येय तत्त्वज्ञान तो भगवत् कृपासे मिल ही जाता है, वे भगवान्‌की सगुण लीलाओं-का आनन्द विशेष पाते हैं और उसे त्रिताप-तप्त लोगोंमें बाँटकर उनका उद्धार करते हैं। व्यक्तोपासक अव्यक्त-तत्त्वज्ञानके साथ ही व्यक्त-तत्त्वको भी जानते हैं, व्यक्तोपासनाका मार्ग जानते हैं, उसके आनन्दको उपलब्ध करते हैं और लोगोंको दे सकते हैं। वे दोनों प्रकारके तत्त्व जानते, उनका आनन्द लेते और लोगोंको बतला सकते हैं, इसलिये भगवान्‌के मतमें वे 'योगवित्तम' हैं, योगियोंमें उत्तम हैं।

वास्तवमें बात भी यही है। प्रेमके बिना रहस्यकी गुह्य बातें नहीं जानी जा सकतीं। किसी राजाके एक तो दीवान है और दूसरा राजाका परम विश्वासपात्र व्यक्तिगत प्रेमी सेवक है। दीवानको राज्यव्यवस्थाके सभी अधिकार प्राप्त हैं। वह राज्यसम्बन्धी सभी कार्योंकी देख-रेख और सुव्यवस्था करता है, इतना होनेपर भी राजाके मनकी गुप्त बातोंको नहीं जानता और न वह राजाके साथ अन्तःपुर आदि सभी स्थानोंमें अबाधरूपसे जा ही सकता है, 'विहार-शय्यासन-भोजनादि' में एकान्त देशमें उसको राजाके

साथ रहनेका कोई अधिकार नहीं है, यद्यपि राज्य-सम्बन्धी सारे काम उसीकी सलाहसे होते हैं। इधर वह राजाका व्यक्तिगत प्रेमी मित्र यद्यपि राज्य-सम्बन्धी कार्यमें प्रकाश्य-रूपसे कुछ भी दखल नहीं रखता, परन्तु राजाकी इच्छानुसार प्रत्येक कार्यमें वह राजाको प्राइवेटमें अपनी सम्मति देता है और राजा भी उसीकी सम्मतिके अनुसार कार्य करता है। राजा अपने मनकी गोपनीय-से-गोपनीय भी सारी बातें उसके सामने निःशंकभावसे कह देता है। राजाका यह निश्चय रहता है कि 'यह मेरा प्रेमी सखा दीवानसे किसी हालतमें कम नहीं है। दीवानीका पद तो यह चाहे तो इसको अभी दिया जा सकता है, जब मैं ही इसका हूँ, तब दीवानीका पद कौन बड़ी बात है?' परन्तु उस मन्त्रीके पदको न तो वह प्रेमी चाहता है और न राजा उसे देनेमें ही सुभीता समझता है, क्योंकि दीवानीका पद दे देनेपर मर्यादाके अनुसार वह राज्यकार्यके सिवा राजाके निजी कार्योंमें साथ नहीं रह सकता, जिनमें उसकी परम आवश्यकता है, क्योंकि वह मन्त्रीत्व-पदका त्यागी प्रेमी सेवक राजाका अत्यन्त प्रियपात्र है, उसका सखा है और इष्ट है।

यहाँ राजाके स्थानमें परमात्मा, दीवानके स्थानमें अव्यक्तोपासक ज्ञानी और प्रेमी सखाके स्थानमें व्यक्तोपासक प्यारा भक्त

है। अव्यक्तोपासक पूर्ण अधिकारी है, परन्तु वह राजा (परमात्मा) का अन्तरंग सखा नहीं, उसकी निजी लीलाओंसे न तो परिचित है और न उसके आनन्दमें सम्मिलित है। वह राज्यका सेवक है, राजाका नहीं। परन्तु वह प्यारा भक्त तो राजाका निजी सेवक है, राजाका विश्वासपात्र होनेके नाते राज्यका सेवक तो हो ही गया। इसीलिये व्यक्तोपासक मुक्ति न लेकर भगवच्चरणोंकी नित्य सेवा माँगा करते हैं, भगवान्‌की लीलामें शामिल रहनेमें ही उन्हें आनन्द मिलता है। वास्तवमें वे धन्य हैं जिनके लिये निराकार ईश्वर साकार बनकर प्रकट होते हैं, क्योंकि वे निराकार-साकार दोनों स्वरूपोंके तत्त्वोंको जानते हैं, इसीसे निराकाररूपसे अपने रामको सबमें रमा हुआ जानकर भी, अव्यक्तरूपसे अपने श्रीकृष्ण-को सबमें व्याप्त समझकर भी धनुर्धारी मर्यादापुरुषोत्तम दाशरथी श्रीराम-रूपमें और चित्तको आकर्षण करनेवाले मुरलीमनोहर श्री-कृष्ण-रूपमें उनकी उपासना करते हैं और उनकी लीला देख-देखकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं। गोसाईंजी महाराजने इसीलिये कहा है—*'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जाने कोय।'* अतएव जो 'सगुण' सहित निर्गुणको जानते हैं वे ही भगवान्‌के मतमें 'योगवित्तम' हैं!

अब यह देखना है कि गीताके व्यक्त भगवान्‌का क्या स्वरूप है, उनके उपासककी कैसी स्थिति और कैसे आचरण हैं और इस उपासनाकी प्रधान पद्धति क्या है? क्रमसे तीनोंपर विचार कीजिये—

गीतोक्त साकार उपास्यदेव एकदेशीय या सीमाबद्ध भगवान् नहीं हैं। वे निराकार भी हैं और साकार भी हैं। जो साकारोपासक अपने भगवान्‌की सीमा बाँधते हैं वे अपने ही भगवान्‌को छोटा बनाते हैं। गीताके साकार भगवान् किसी एक मूर्ति, नाम या धामविशेषमें ही सीमित नहीं हैं। वे सत्, चेतन, आनन्दघन, विज्ञानानन्दस्वरूप, पूर्ण, सनातन, अनादि, अनन्त, अज, अव्यय, शान्त, सर्वव्यापी होते हुए ही सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सृष्टिकर्ता, परम दयालु, परम सुहृद्, परम उदार, परम प्रेमी, परम मनोहर, परम रसिक, परम प्रभु और परम शूरशिरोमणि हैं। वे जन्म लेते हुए दीखनेपर भी अजन्मा हैं, वे साकार-व्यक्तरूपमें रहनेपर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं। वे एक या एक ही साथ अनेक स्थानोंमें व्यक्तरूपसे अवतीर्ण होकर भी अपने अव्यक्तरूपसे, अपनी अनन्त सत्तासे सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा स्थित हैं। मन्दिरमें, मन्दिरकी मूर्तिमें, उसकी दीवारमें, पूजामें,

पूजाकी सामग्रीमें और पुजारीमें, बाहर-भीतर सभी जगह वे विद्यमान हैं। वे सगुण साकाररूपसे भक्तोंके साथ लीला करते हैं और निर्गुण निराकाररूपसे बर्फमें जलकी भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं '*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।*' उन परम दयालु प्रभुको हम किसी भी रूप और किसी भी नामसे देख और पुकार सकते हैं। इस रहस्यको समझते हुए हम ब्रह्म, परमात्मा, आनन्द, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश, अरिहन्त, बुद्ध, अल्लाह, गॉड, जिहोवा आदि किसी भी नाम-रूपसे उनकी उपासना कर सकते हैं। उपासनाके फलस्वरूप जब उनकी कृपासे उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होगा तब सारे संशय आप ही मिट जायँगे। इस रहस्यसे वञ्चित होनेके कारण ही मनुष्य मोहवश भगवान्‌की सीमा निर्देश करने लगता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

(गीता ७। २४)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९।११)

'मैं अव्ययात्मा, अजन्मा और सर्व भूतप्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको अधीन करके (प्रकृतिके अधीन होकर नहीं) योगमायासे—लीलासे साकाररूपमें प्रकट होता हूँ।' 'अज, अविनाशी रहता हुआ ही मैं अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ। मेरे इस परमोत्तम अविनाशी परम रहस्यमय भावको—तत्त्वको न जाननेके कारण ही बुद्धिहीन मनुष्य मुझ मन–इन्द्रियोंसे परे सच्चिदानन्द परमात्माको साधारण मनुष्यकी भाँति व्यक्तभावको प्राप्त हुआ मानते हैं।' 'ऐसे परम भावसे अपरिचित मूढ़ लोग मुझ 'मनुष्य-रूप-धारी' सर्वभूतमहेश्वर परमात्माको यथार्थतः नहीं पहचानते।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि गीताके सगुण साकार—व्यक्त भगवान्, निराकार—अव्यक्त, अज और अविनाशी रहते हुए ही साकार मनुष्यादिरूपमें प्रकट हो लोकोद्धारके लिये विविध लीलाएँ किया करते हैं। संक्षेपमें यही गीतोक्त व्यक्त उपास्य भगवान्‌का स्वरूप है।

अब व्यक्तोपासककी स्थिति देखिये । गीताका साकारोपासक भक्त अव्यवस्थित चित्त, मूर्ख, अभिमानी, दूसरेका अनिष्ट करनेवाला, धूर्त, शोकग्रस्त, आलसी, दीर्घसूत्री, अकर्मण्य, हर्ष-शोकादिसे अभिभूत, अशुद्ध आचरण करनेवाला, हिंसक स्वभाववाला, लोभी, कर्मफलका इच्छुक और विषयासक्त नहीं होता, पापके लिये तो उसके अन्दर तनिक भी गुंजायश नहीं रहती । वह अपनी अहंता-ममता अपने प्रियतम परमात्माके अर्पणकर निर्भय, निश्चिन्त, सिद्धि-असिद्धिमें सम, निर्विकार, विषय-विरागी, अनहंवादी, सदा प्रसन्न, सेवा-परायण, धीरज और उत्साहका पुतला, कर्तव्यनिष्ठ और अनासक्त होता है । भगवान्‌ने यहाँ साकारोपासनाका फल और उपासककी महत्ता प्रकट करते हुए संक्षेपमें उसके ये लक्षण बताये हैं—'वह केवल भगवान्‌के लिये ही सब कर्म करनेवाला, भगवान्‌को ही परम गति समझकर उन्हींके परायण रहनेवाला, भगवान्‌का ही अनन्य और परम भक्त, सम्पूर्ण सांसारिक विषयोंमें आसक्तिरहित, सब भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित, मनको परमात्मामें एकाग्र करके नित्य भगवान्‌के भजन-ध्यानमें रत, परम श्रद्धा-सम्पन्न, सर्वकर्मोंका भगवान्‌में भलीभाँति

उत्सर्ग करनेवाला और अनन्यभावसे तैलधारावत् परमात्माके ध्यान-में रहकर भजन-चिन्तन करनेवाला होता है (गीता ११।५५, १२।२, १२।६–७)। गीतोक्त व्यक्तोपासककी संक्षेपमें यही स्थिति है। भगवान्‌ने इसी अध्यायके अन्तके ८ श्लोकोंमें व्यक्तो-पासक सिद्ध भक्तके लक्षण विस्तारसे बतलाये हैं।

अब रही उपासनाकी पद्धति। सो व्यक्तोपासना भक्तिप्रधान होती है। अव्यक्त और व्यक्तकी उपासनामें प्रधान भेद दो हैं—उपास्यके स्वरूपका और उपासकके भावका। अव्यक्तोपासनामें उपास्य निराकार है और व्यक्तोपासनामें साकार। अव्यक्तोपासनाका साधक अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझकर *'अहं ब्रह्मास्मि'* कहता है, तो व्यक्तोपासनाका साधक भगवान्‌को ही सर्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुआ समझकर *'वासुदेवः सर्वमिति'* कहता है। उसकी पूजामें कोई आधार नहीं है और इसकी पूजामें भगवान्‌के साकार मनमोहन विग्रहका आधार है। वह सब कुछ स्वप्नवत् मायिक मानता है तो यह सब कुछ भगवान्‌की आनन्दमयी लीला समझता है। वह अपने बलपर अग्रसर होता है, तो यह भगवान्‌की कृपाके बलपर चलता है। उसमें ज्ञानकी प्रधानता है, तो इसमें प्रेमकी। अवश्य ही परस्पर

प्रेम और ज्ञान दोनोंमें ही रहते हैं। अव्यक्तोपासक समझता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं, वास्तवमें कुछ है ही नहीं। व्यक्तोपासक समझता है कि मुझे अपने हाथकी कठपुतली बनाकर भगवान् ही सब कुछ करा रहे हैं, कर्ता, भोक्ता सब वे ही हैं, मेरेद्वारा जो कुछ होता है, सब उनकी प्रेरणासे और उन्हींकी शक्तिसे होता है, मेरा अस्तित्व ही उनकी इच्छापर अवलम्बित है। यों समझकर वह अपना परम कर्तव्य केवल भगवान्का नित्य चिन्तन करना ही मानता है। भगवान् क्या कराते हैं या करायँगे—इस बातकी वह चिन्ता नहीं करता, वह तो अपने मन बुद्धि उन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो रहता है। भगवान्के इन वचनोंके अनुसार ही उसके आचरण होते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्

(गीता ८।७)

इस उपासनामें दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, असत्य और मोहको तनिक-सा भी स्थान नहीं है, उपासक इन दुर्गुणोंसे रहित होकर सारे चराचरमें सर्वत्र अपने उपास्यदेवको

देखता हुआ उनके नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन और ध्यानमें निरत रहता है। भजन-साधनको परम मुख्य माननेपर भी वह कर्तव्यकर्मोंसे कभी मुख नहीं मोड़ता; वरं न्यायसे प्राप्त सभी योग्य कर्मोंको निर्भयतापूर्वक धैर्य-बुद्धिसे भगवान्के निमित्त करता है। उसके मनमें एक ही सकाम भाव रहता है, वह यह कि, अपने प्यारे भगवान्की इच्छाके विपरीत कोई भी कार्य मुझसे कभी न बनना चाहिये। उसका यह भाव भी रहता है कि मैं परमात्माका ही प्यारा सेवक हूँ और परमात्मा ही मेरे एकमात्र सेव्य हैं, वे मुझपर दया करके मेरी सेवा स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करनेके लिये ही अपने अव्यक्त अनन्तस्वरूपमें स्थित रहते हुए ही साकार—व्यक्तरूपमें मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं। इसलिये वह निरन्तर श्रद्धापूर्वक भगवान्का स्मरण करता हुआ ही समस्त कर्म करता है। भगवान्ने छठे अध्यायके अन्तमें ऐसे ही भजनपरायण योगीको सर्वश्रेष्ठ योगी माना है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धालु योगी मुझमें लगाये हुए अन्तरात्मासे निरन्तर मुझे भजता है वही मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ है।' इस श्लोकमें आये हुए '*श्रद्धावान्*' और '*मद्गतेनान्तरात्मना*' के भाव ही द्वादश अध्यायके दूसरे श्लोकमें '*श्रद्धया परयोपेता*' और '*मय्यावेश्य मनः*' में व्यक्त हुए हैं। '*युक्ततम*' शब्द तो दोनोंमें एक ही है। व्यक्तोपासनामें भजनका अभ्यास, भगवान्‌के साकार-निराकार-तत्त्वका ज्ञान, उपास्य इष्टका ध्यान और उसीके लिये सर्व कर्मोंका आचरण और उसीमें सर्व कर्मफलका संन्यास रहता है। व्यक्तोपासक अपने उपास्यकी सेवाको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहता। इसीसे अभ्यास, ज्ञान और ध्यानसे युक्त रहकर सर्व-कर्म-फलका—मोक्षका परमात्माके लिये त्याग करते ही उसे परम शान्ति, परमात्माके परम पदका अधिकार मिल जाता है। यही भाव १२ वें श्लोकमें व्यक्त किया गया है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्धयानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

'रहस्यज्ञानरहित अभ्याससे परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है, उससे परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है और जिस सर्व-कर्मफल-त्यागमें अभ्यास,ज्ञान

और ध्यान तीनों रहते हैं वह सर्वश्रेष्ठ है. उस त्यागके अनन्तर ही परम शान्ति मिल जाती है।'

इसके बीच ८ से ११ तकके चार श्लोकोंमें—ध्यान, अभ्यास, भगवदर्थ कर्म और भगवत्प्राप्तिरूप योगका आश्रय लेकर कर्म-फल-त्याग—ये चार साधन बतलाये गये हैं; जो जिसका अधिकारी हो. वह उसीको ग्रहण करे। इनमें छोटा-बड़ा समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, जिसमें चारों हों वह सर्वोत्तम है, वही परम भक्त है। ऐसे भक्तको जब परम सिद्धि मिल जाती है तब उसमें जिन सब लक्षणोंका प्रादुर्भाव होता है उन्हींका वर्णन अध्यायकी समाप्तितकके अगले आठ श्लोकोंमें है। वे लक्षण सिद्ध भक्तमें स्वाभाविक होते हैं और साधकके लिये आदर्श हैं। यही गीतोक्त व्यक्तोपासनाका रहस्य है।

इससे यह सिद्धान्त नहीं निकालना चाहिये कि अव्यक्तोपासनाका दर्जा नीचा है या उसकी उपासनामें आचरणोंकी कोई खास भिन्नता है। अव्यक्तोपासनाका अधिकार बहुत ही ऊँचा है। विरक्त, धीर, वीर और सर्वथा संयमी पुरुष-पुंगव ही इस कण्टकाकीर्ण मार्गपर पैर रख सकते हैं। उपासनामें भी दो-एक बातोंको छोड़कर प्रायः सादृश्यता ही है। व्यक्तोपासकके लिये 'सर्वभूतेषु

'निर्वैरः' की और 'मैत्रः करुण' की शर्त है, तो अव्यक्तोपासकके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' की है। उसके लिये भगवान्में मनको एकाग्र करना आवश्यक है, तो इसके लिये भी समस्त 'इन्द्रियग्राम' को भलीभाँति वशमें करना ज़रूरी है। वह अपने उपास्यमें 'परम श्रद्धावान्' है तो यह भी सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमें 'सम-बुद्धि' है।

वास्तवमें भगवान्का क्या स्वरूप है और उनकी दिव्यवाणी श्रीगीताके श्लोकोंका क्या मर्म है, इस बातको यथार्थतः भगवान् ही जानते हैं अथवा जो महात्मा भगवत्-कृपाका अनुभव कर चुके हैं वे कुछ जान सकते हैं। मुझ-सरीखा विषय-रत प्राणी इन विषयोंमें क्या जाने? मैंने यहाँपर जो कुछ लिखा है सो असलमें पूज्य महात्मा पुरुषोंका जूठन-प्रसाद ही है। जिन प्राचीन या अर्वाचीन महात्माओंका मत इस मतसे भिन्न है, वे सभी मेरे लिये तो उसी भावसे पूज्य और आदरणीय हैं। मैंने उनकी वाणीका अनादर करनेके अभिप्रायसे एक अक्षर भी नहीं लिखा है। अवश्य ही मुझे यह मत प्यारा लगता है, सम्भव है इसमें मेरी रुचि और इस ओरकी आसक्ति ही खास कारण हो। मैं तो सब सन्तोंका दासानुदास और उनकी चरण-रजका भिखारी हूँ।

उन्नतिका स्वरूप

वर्तमान जगत्‌में कोने-कोनेसे उन्नतिकी आवाज़ आ रही है। चारों ओर उन्नतिकी चर्चा है। सभी क्षेत्रोंमें लोग उन्नति करना चाहते हैं। कहा जाता है कि इस बीसवीं शताब्दीके उन्नतिके युगमें जो देश, जाति, सम्प्रदाय, समाज या व्यक्ति उन्नतिकी दौड़में पीछे रह जायगा, वह नितान्त ही पुरुषार्थहीन समझा जायगा। इसीलिये आज सभी मुट्ठी बाँधकर उन्नतिके मैदानमें मानों बाजी रखकर दौड़ लगा रहे हैं और उन्नति-उन्नतिकी पुकार मचा रहे हैं।

लोगोंके कथनानुसार उन्नति हो भी रही है, जगह-जगह उन्नति या उत्थानके विविध उदाहरण भी उपस्थित किये जाते हैं। 'यूरोप जंगली था, आज सुसभ्य और परम उन्नत है, उसकी धाक सारे संसारपर जमी हुई है। जापान कुछ समय पूर्व अवनतिके गर्तमें गड़ रहा था, आज धन-जन-सम्मानसे परिपूर्ण है। अमेरिकाकी उन्नतिका तो कहना ही क्या है? संसारके सभी राष्ट्र आज धनके लिये उसीकी ओर सतृष्ण दृष्टिसे ताक रहे हैं। टर्कीने मस्जिदोंका नीलामी इश्तिहार निकालकर, अरबी-लिपिका वहिष्कार कर, औरतोंके चेहरोंसे बुर्का हटाकर और खलीफाके पदको पददलित कर बड़ी भारी उन्नति कर ली है। अफगानिस्तान तो उन्नतिके लिये अपना बलिदान ही दे रहा था।' भारत भी उन्नतिमें किसीसे पीछे क्यों रहेगा? मील-महल, टेलिफोन-रेडियो, मोटर-विमान, कालेज-बोर्डिंग, होटल-उपहारगृह, प्रेस-पत्र और नाटक-सिनेमा आदि सभी उन्नत सभ्य समाजके सामान मौजूद हैं। सब तरहकी आजादी पानेके लिये सर्वत्र 'क्रान्ति' शुरू हो ही गयी है। सभा-समाज और वक्ता-उपदेशक अपना-अपना काम कर रहे हैं। पूरी उन्नति अभी नहीं हुई तो क्या हुआ, कार्यक्रम जारी रहा तो वह दिन भी दूर नहीं समझना चाहिये। बस, दौड़ते रहो,

बढ़ते रहो, खबरदार ! कोई पिछड़ न जाय ! सारांश यह कि आज अखिल विश्वका आकाश उन्नतिके घने मेघोंसे आच्छादित है।

मनमें कई वार प्रश्न उठता है, क्या यही यथार्थ उन्नति है ? क्या धन-जन, शारीरिक शक्ति, अस्त्रबल, मान-प्रतिष्ठा, पद-गौरव, रेल-विमान, मोटर आदि भोग-सामग्रियोंके प्राप्त कर लेनेसे ही हम उन्नत हो जाते हैं ? क्या जागतिक मोहमयी विद्याका अनुशीलन कर यथेच्छाचरण करनेसे ही हमारी उन्नति हो जाती है ? देखा जाता है, विषय-संग्रहके साधनोंमें और उनके संग्रह हो जानेपर भोगोंमें राग-द्वेष बढ़ जाते हैं, हृदय अभिमानसे भर जाता है। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और मदका विस्तार हो जाता है। मन, इन्द्रियाँ काबूसे बाहर हो जाती हैं। चौबीसों घण्टे उन्मत्तकी भाँति धन, पुत्र, स्त्री, मान, यशादिके भोगनेमें और उनके संग्रह करनेकी चिन्तामें चित्त संलग्न रहता है। क्या यही उन्नतिके चिह्न हैं ? क्या आत्मिक उन्नतिको भुलाकर केवल धन, मान, मदके संग्रहमें लगे रहनेसे उन्नतिके नामपर हमारा मन मोहसे अभिभूत नहीं हो जाता और क्या वह मोह अवनतिके समुद्रमें हमें डुबो नहीं देता ? एक बार विचार कीजिये, शान्त चित्तसे सोचिये !

एक मनुष्यने बहुत-सी मीलें बनायी, जिनसे बहुत धन कमाया, आज वह अरबोंकी सम्पत्तिका स्वामी है। उसके भोग-सुखोंके साधनका पार नहीं है। परन्तु उसके इतने धनी होनेमें लाखों गरीब तबाह हो गये। हिंसा, असत्य और धोखेबाजीके साधनोंसे उसका हृदय मलिन हो गया, दया जाती रही! आज भी उसका मन मलिन है, उसमें राग-द्वेष भरा है, वह दूसरोंकी उन्नति देखकर जलता और अवनतिसे खिल उठता है! सत्य, शौच, सन्तोष और परमात्माकी उसे कुछ भी परवा नहीं है। धनके मदसे मतवाला होकर वह आठों पहर भोग-विलास, मान-संभ्रम या नाम पैदा करनेमें रत है। दूसरी ओर एक मनुष्यने परोपकारमें या प्रारब्धवश व्यापारके नुकसानमें अपना सारा धन खो दिया या वह जन्मसे ही दरिद्री है। आज उसे पेट भरनेके लिये अन्न और सर्दी, गरमीसे बचनेके लिये पूरा कपड़ा नहीं मिलता, परन्तु इस संकटमें भी उसने सद्विचार और सत्संगसे अपने हृदयको शुद्ध कर रक्खा है। उसमें दयालुता, सरलता, सहानुभूति और शान्ति आदि गुणोंका प्रादुर्भाव हो गया है, वह सदा दूसरोंका भला चाहता है और यथासाध्य करता भी है, समयपर परमात्माको यादकर दुःखमें भी उसकी दयाका अनुभव करता हुआ प्रसन्न-

चित्त रहता है। बतलाइये, इन दोनोंमें किसकी यथार्थ उन्नति हुई और हो रही है?

एक मनुष्य बड़ा ईश्वर-भक्त या देश-भक्त कहलाता है, स्थान-स्थानमें उपदेश देता फिरता है, आचार्य या नेताकी हैसियतसे सर्वत्र पूजा जाता है, जगह-जगह मान या मानपत्र प्राप्त करता है, हजारों-लाखों नर-नारी उसके दर्शन करने और भाषण सुनने-को लालायित रहते हैं, पर यह सब कुछ वह रागद्वेषसे प्रेरित होकर मान प्राप्त करने या धन कमानेके लिये कर रहा है। अपनी भड़कीली वक्तृताओंसे अल्पबुद्धि और अनुभवरहित लोगोंको उत्तेजित और पथभ्रष्ट कर उनको इस लोक और परलोकमें दुखी बना देता है। दूसरी ओर एक सीधा-सादा ईश्वरभक्त व्यक्ति है, जिसको कोई पूछता जानता भी नहीं, जो चुपचाप अपने भगवान्‌के सामने रोता है। जो अपने सामर्थ्यके अनुसार चुप-चाप शरीर, मन, वाणीसे, रोटीके एक सूखे टुकड़ेसे, चुल्लूभर पानीसे, बीमारीकी हालतमें सेवासे, सद्‌व्यवहारसे और सच्चे सन्मार्गकी शिक्षासे जनताकी सेवा करता है या एकान्तमें बैठकर, जनताकी आँखोंसे ओझल होकर चुपचाप भगवद्भजन ही करता है। बतलाइये, इन दोनोंमें कौन उन्नत है?

एक तन्दुरुस्त आदमी रोज़ अखाड़ेमें जाकर कुश्ती लड़ता है। बात-की-बातमें चाहे जिसे पछाड़ देता है, इसीलिये बल संग्रह करता है कि वह रागद्वेषवश जिनको अपना शत्रु समझता है, उन्हें पछाड़ सके। अपने शरीर-बलके अभिमानसे किसीको कुछ समझता ही नहीं, शक्तिके बलपर दूसरोंके मनमें भय उत्पन्न करने और भोग भोगनेमें ही लगा रहता है। दूसरी ओर एक कोढ़ी मनुष्य है, शरीर अत्यन्त अशक्त हो रहा है, लोग उससे घृणा करते हैं, परन्तु उसका अन्तःकरण प्रेमसे पूर्ण है, वह सदा-सर्वदा सबका हित चाहता है, किसीसे द्वेष नहीं करता, जो कुछ मिलता है, उसे ही खाकर एक कोनेमें पड़ा ईश्वरका स्मरण करता है। बतलाइये, इन दोनोंमें आप किसको उन्नतिके पथपर आरूढ़ समझते हैं?

एक बड़े उच्च वर्णका मनुष्य है, रोज घण्टों नहाता है, शरीरको खूब मल-मलकर धोता है, तिलक और दिखावटी-पूजामें घण्टों बिता देता है, किसीको कभी स्पर्श नहीं करता, बड़ा नामी धर्मात्मा कहलाता है, परन्तु अपने वर्ण या जातिके अभिमानवश रागद्वेषसे प्रेरित होकर दूसरे अपने ही जैसे मनुष्योंसे घृणा करता है, उन्हें बुरा-भला कहता है, सबको अपनेसे नीचा समझता है।

परम पिता परमात्माकी दूसरी सन्तानसे द्रोह कर परमात्माकी आज्ञाका उल्लंघन करता है और जिसके मनमें ढोंग समाया हुआ है। दूसरी ओर एक नीच वर्णका मनुष्य है, परन्तु उसका हृदय भगवद्भक्तिसे भरा है, वह बड़े प्रेमसे रामनाम लेता है। अपना सब कुछ भगवान्‌का समझता है, कभी किसीकी बुराई नहीं करता और अपनेको सबसे नीचा समझकर सबकी सेवा करना ही अपना धर्म समझता है। बतलाइये, इनमें कौन यथार्थ उन्नति कर रहा है?

एक मनुष्य जिसे कोई बड़ा अधिकार प्राप्त है, सैकड़ों मनुष्य जिनसे सलामी भरते हैं, हजारों जिससे काँपते हैं और 'जी हुजूर' 'जी सरकार' के नामसे सम्बोधन करते हैं पर जो रागद्वेषवश अपने अधिकारका दुरुपयोग करता है, स्वार्थवश अन्याय करता है, न्यायान्यायका विचार त्यागकर मनमानी करता है और पद-गौरवमें पागल होकर हर किसीका अपमान कर बैठता है। दूसरी ओर एक मनुष्य जिसको कोई अधिकार प्राप्त नहीं है, जो बात-बातमें दुत्कारा जाता है, पर जिसका मन स्वच्छ सलिलकी भाँति निर्मल है, जिसके हृदयमें हिंसा-द्वेषको स्थान नहीं है, जो ईश्वरकी भक्ति करता है और उससे सबका भला मनाता है। बतलाइये, इनमें कौन-सा उन्नतिका पथिक है?

एक मनुष्य दिन-रात मनमाने धर्मके प्रचार-कार्यमें लगा है। प्रसिद्ध व्याख्यानदाता है, रागद्वेषवश जगह-जगह विधर्मियोंकी निन्दा कर, उनके ईश्वरको अपूर्ण और नीच बतलाकर लोगोंके मनमें घृणा उत्पन्न करता है। अपने धर्मके दोषोंको छिपाकर दूसरोंके थोड़े दोषोंको भी विस्तारसे वर्णन करता है। दूसरी ओर एक मनुष्य चुपचाप धर्मपालन करता है, कहीं भी उसकी प्रसिद्धि नहीं है, परन्तु जो अपने जीवनको धर्ममय बनाकर किसीकी भी व्यर्थ निन्दा-स्तुतिमें समय न लगाकर अपने आदर्श जीवनसे दूसरोंपर अनायास प्रभाव डालता है, पर वह प्रभाव डालनेकी कामनासे धर्म-पालन नहीं करता, केवल कर्तव्यवश ही करता है। बतलाइये, इनमें किसकी उन्नति हो रही है?

एक सज्जनने बहुत विद्याध्ययन किया, शास्त्रोंकी खूब आलोचना की, धड़ाधड़ परीक्षाएँ पास कीं, नामके साथ उपाधियोंके बहुत-से अक्षर जुड़ गये, शास्त्रार्थमें बड़े-बड़े प्रसिद्ध पण्डितोंको परास्त किया, व्याख्यानोंसे आकाश गुँजा दिया, परन्तु विद्याका और विद्वान् होनेपर प्रतिष्ठाका अभिमान बढ़ गया, अनेक प्रकारके तर्कजालोंमें फँसकर उसका मन श्रद्धा और विश्वाससे हीन हो गया। परमात्माकी कोई परवा नहीं, तर्क और पाण्डित्यसे परमात्माकी

सिद्धि-असिद्धि करने लगा। शास्त्र उसके मनोविनोदकी सामग्री बन गये। ईश्वरकी दिल्लगियाँ उड़ाने लगा और पूरा यथेच्छाचारी बन गया। दूसरी ओर एक अशिक्षित ग्रामीण है, उसने एक भी परीक्षा पास नहीं की है, उसके नामसे भी लोग अपरिचित हैं, अच्छी तरह बोलना भी नहीं जानता, परन्तु जिसका सरल हृदय विश्वास और श्रद्धासे भरा है, जो नम्रतासे सबका सत्कार करता है, प्रेमपूर्वक परमात्माका नाम-स्मरण करता है, ईश्वरको जगत्का नियन्ता समझकर पाप करनेमें डरता है और परम सुहृद् तथा परम पिता समझकर प्रेम तथा भक्ति करता है, परम दयालु स्वामी समझकर अपनेको उसका दासानुदास समझता है। प्रेममें कभी हँसता है, कभी रोता है, और आनन्दसे चुपचाप अपना शान्त जीवन बिताता है। बतलाइये, इन दोनोंमें किसकी उन्नति हो रही है?

जो लोग अपनी रागद्वेषयुक्त क्षुद्र अनिश्चयात्मिका बुद्धिकी कसौटीपर ईश्वरके स्वरूपको कसना चाहते हैं, उन्हें ईश्वरमें कभी विश्वास नहीं हो सकता। जो बुद्धि रागद्वेषसे दूषित है, काम-क्रोधका आगार बनी हुई है, शरीरको ही आत्मा समझती है, उस बुद्धिसे ईश्वरके दिव्य कर्मोंकी जाँच-पड़ताल करना, उसी बुद्धिके निर्णयके अनुसार ईश्वरको चलानेकी कामना करना और उसी

निर्णयसे ईश्वरका ईश्वरत्व या अनीश्वरत्व सिद्ध करने जाना कितना बड़ा अज्ञान है ? यह स्मरण रखना चाहिये कि सरल विश्वास और श्रद्धा विना ईश्वरीय ज्ञान कभी नहीं हो सकता ।

कुछ समय पूर्व डा० जान माट नामक एक अमेरिकन सज्जन मैसूरमें होनेवाले 'विश्व-छात्र-फिडरेसन' के सभापति वनकर अमेरिकासे भारत आये थे । उन्होंने महात्मा गाँधीजीसे विभिन्न विषयोंपर वातें की । वातचीतके प्रसंगमें ही महात्माजीने कहा कि 'मैं युवकोंसे ईश्वर-प्रार्थना करनेको कहूँगा ।' इसपर डा० माटने पूछा—

'यदि इससे उनको लाभ नहीं पहुँचा अर्थात् उनकी प्रार्थना नहीं सुनी गयी तो ?'

म०—तव वह उनकी प्रार्थना ही नहीं कही जायगी । वह तो उनकी मौखिक प्रार्थना हुई, प्रार्थना तो वह है जिसका असर हो ।

डा०—हमारे युवकोंके साथ यही तो कठिनाई है, विज्ञान और दर्शनशास्त्रकी शिक्षाओंने उनकी इन सारी धारणाओंको नष्ट कर दिया है।

म०-यह तो इसी कारण है कि वे विश्वासको बुद्धिकी चेष्टा समझते हैं, आत्माका अनुभव नहीं। बुद्धि हम लोगोंको जीवन-क्षेत्रमें कुछ दूरतक ले जा सकती है, परन्तु अन्तमें वह मौकेपर धोखा दे देती है। विश्वाससे कारणोंकी उत्पत्ति होती है। जिस समय हमें चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी पड़ता है एवं हमारी बुद्धि बेकाम हो जाती है, उस समय विश्वास ही हमारी रक्षाको आता है। यही वह विश्वास है, जिसकी हमारे नवयुवकोंमें आवश्यकता है और यह तभी प्राप्त होता है जब कि बुद्धिके गर्वको बिल्कुल चूरकर ईश्वरकी इच्छाओंपर अपनेको पूर्णतया समर्पित कर दिया जाय।

पूज्य महात्माजीका यह कथन अक्षरशः सत्य और सदा स्मरण रखने योग्य है। मौके-बेमौके बुद्धिके बेकाम हो जानेपर ईश्वरीय-विश्वास ही रक्षक होता है। ईश्वरीय-विश्वासके बलसे रक्षित पुरुष ही ऐसी बात कह सकता है। परन्तु आजके इस उन्नतिशील जगत्की स्थिति क्या है? जो लोग आज अपनेको उन्नत या उन्नति-पथारूढ़ समझते हैं, उनके हृदयमें यथार्थमें क्या बात है? अपने-अपने हृदयोंको टटोलकर देखिये। खेद है, कि ईश्वरको मानना तो दूर रहा, आजके उन्नत मानवोंका

हृदय तो मोहसे इतना अभिभूत हो गया है कि अपनी उन्नति-अवनतिके यथार्थ स्वरूपको समझनेकी भी शक्ति प्रायः जाती रही है। बुद्धि सूक्ष्म होते-होते इतनी सूक्ष्म हो गयी कि अब कहीं उसका पता ही नहीं लगता। इसीसे राग-द्वेषके विषैले भावोंसे प्रेरित होकर आजका मनुष्य-समाज परस्पर ध्वंसात्मक चेष्टा और क्रिया कर रहा है तथा उसीमें अपनी उन्नति मान रहा है।

जिस यूरोपकी उन्नतिपर हम मोहित हैं, उसकी उन्नतिके परिणाममें एक तो धन-जन और शान्ति-सुख ध्वंसकारी महायुद्ध हो गया और दूसरेकी अन्दर-ही-अन्दर तैयारी हो रही है। पता नहीं, यह अन्दरका भयानक विस्फोटक कब फूट उठे! विज्ञानमें उन्नत जगत्का वैज्ञानिक आविष्कार गरीबोंका सर्वस्व नाश करने और अल्पकालमें ही बहुसंख्यक मनुष्योंकी हत्या करनेका प्रधान साधन बन रहा है। पेट्रियोटिज्म और देश-प्रेम पर-देश-दलनका नामान्तरमात्र रह गया है। राष्ट्र-सेवा पर-राष्ट्रके अहित-चिन्तन और संहारके रूपमें बदल गयी है, उन्नतिके मिथ्या मोह-पाशमें आबद्ध मनुष्य आज रक्त-पिपासु हिंसक पशुकी भाँति एक दूसरेको खा डालनेके लिये कमर कसे तैयार है! एक पाश्चात्य सज्जनने

बड़े मार्मिक शब्दोंमें आजकी उन्नत सभ्यताका दिग्दर्शन कराया है। वह कहते हैं—

"To be dignified is the glory of civilization, to suppress natural laughter, and smile instead, is grand; to "put the best side out" and to conceal the natural; to pretend to be greater or better than we are; to think more of our looks, walk, manners, clothing and the wealth. We have robbed the poor of—this is civilization.

To turn away from one poorly clad, not deigning an answer to a civil question: to look coldly in the eye of a stranger, without speaking when accosted because you have not been introduced: this is dignity, this is faishionable *** to murder each other without enmity—this is to be civilized.

The earth is drenched with human gore and her fair fields are rich with the bone dust of humanity. The glory of one nation is the distruction of another."

'आज पदवी बढ़ जानेमें ही सभ्यताकी शान है, स्वाभाविक हँसीको दबाकर उसके बदले मुस्कुरा देना, स्वाभाविक स्थितिको छिपाकर सबसे अच्छे भागको सामने रखना; वस्तुतः हम जैसे

नहीं हैं, उससे अधिक बड़े और अच्छे होनेका ढोंग रचना, अपने विचार, चालढाल, आचरण, पोशाक और धन-ऐश्वर्यको अच्छा समझना, यही गौरवकी बात है। गरीब मनुष्यको चतुराईसे ठग लेना, यही सभ्यता है!'

'गरीबी पोशाकवाले मनुष्यको देखते ही मुँह फिरा लेना, उसके सभ्यतापूर्ण प्रश्नका उत्तर न देना, विदेशी अपरिचितकी ओर उदासीन भावसे देखना और जब वह बातचीत शुरू करे तब न बोलना, यही बड़प्पन और शराफत है। बिना शत्रुताके एक दूसरेकी हत्या कर डालना—यही सभ्यताका निशान है।'

'आज मानव-रक्तसे वसुन्धराकी प्यास बुझायी जाती है और उसके पवित्र क्षेत्र मानवी अस्थियोंके चूर्णसे उपजाऊ बनाये जाते हैं। एक राष्ट्रका गौरव दूसरे राष्ट्रके सत्यानाशमें है।'

जिस उन्नतिका यह स्वरूप है, वह क्या यथार्थ उन्नति है! एक ही देशमें रहनेवाले मुसल्मान हिन्दुओंको और हिन्दू मुसल्मानोंको फुसला-धमकाकर अपने धर्म (!) में शामिल करने और एक दूसरेको नाश करनेकी चेष्टामें लगे हुए हैं। क्या यही उन्नतिका मार्ग है!

राग-द्वेषके विषवृक्षको सींचते रहकर छोटे-छोटे समूहोंको ही अपना स्वरूप मानना तथा एक दूसरेको अपना प्रतिद्वन्द्वी और शत्रु समझकर सदाके लिये लड़ाई ठान लेना और मानमर्यादा, धन-जनादिके संग्रहमें ही अल्पकाल-स्थायी अमूल्य मानव-जीवनको खो देना वास्तवमें उन्नति नहीं है !

आत्माका उत्थान ही उन्नति है और आत्माका पतन ही अवनति है । जिस साधन या क्रियासे आत्माकी उन्नति होती है, वही कार्य या साधन उन्नतिका उपाय है और जिनसे आत्माका पतन हो, वही अवनतिके कारण हैं । दैवी-सम्पत्तिके सुरभित पुष्प जब हृदयमें खिल उठते हैं, तभी मनुष्यकी यथार्थ उन्नति होती है, तभी उसके अन्तःस्तलसे उठी हुई वह सुन्दर सुगन्ध बाहर भी चारों ओर फैलकर सबको सुखी बनाती है । इसके विपरीत जब आसुरी-सम्पत्तिके कूड़े-कचरे और मलसे हृदय भर जाता है, तभी मनुष्यकी अवनति समझी जाती है । ऐसे मनुष्यके हृदयमें पापोंकी सड़न पैदा होकर चारों ओर फैल जाती है और फिर वही बाहर निकलकर संक्रामक व्याधिकी भाँति सबको आक्रान्त कर दुखी कर डालती है !

भौतिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे आत्माकी अवनति-उन्नतिका कोई खास सम्बन्ध नहीं है । यह सम्बन्ध तो अन्दरके

भावोंसे है। एक मनुष्य झूठ बोलकर धन कमाता है और दूसरा असत्यका आश्रय लेकर धन कमानेकी अपेक्षा दरिद्र रहना ही उत्तम समझता है। एक मनुष्य दम्भ रचकर मान-बड़ाई प्राप्त करता है और दूसरा सरलतासे अपमान सहता हुआ अपना जीवन बिताता है। इनमें पहले दोनों उन्नतिके मोहमें आत्माका पतन करते हैं और दूसरे आत्माकी यथार्थ उन्नति करते हैं। संसारके भोग्य-पदार्थोंके लिये अन्तःकरणके सद्गुणोंको नष्ट कर उनके स्थानमें दुर्गुणोंको भर लेना 'घर फूँक तमाशा देखने' से भी बढ़कर मूर्खता है। जिस घरमें मनुष्य सुखपूर्वक निवास करता है, सर्दी-गरमीसे बचता है, उसी घरको यदि वह थोड़ी-सी देरके मनोरञ्जनके लिये मूर्खतासे जलाकर भस्म कर दे और सदाके लिये निराश्रय हो जाय तो उससे बड़ा मूढ़ और कौन होगा ? परन्तु जो लोग केवल थोड़े-से जीवन-कालमें साथ रहनेवाले भौतिक पदार्थोंके संग्रहके लिये हृदयके परम आश्रयरूप दैवी-गुणोंको वहाँसे निकाल देते हैं, उनकी मूर्खताके सामने तो उपर्युक्त मूढ़ भी बुद्धिमान् ही समझा जाता है। जो मनुष्य अपने जलते हुए घरकी अग्निके प्रकाशमें काम करनेकी इच्छासे घर जलाता है, उससे वह मनुष्य कहीं अधिक मूर्ख है, जो भोगोंको बटोरनेके लिये अपने सद्गुणोंको

त्यागकर सुखी होना चाहता है। प्रथम तो भोगोंका प्राप्त होना भी निश्चित नहीं, सारी उम्र जीतोड़ परिश्रम और सच्चे मनसे छल छोड़कर प्रयत्न करनेपर भी बहुतोंको वे नहीं मिलते। मिल भी जाते हैं तो उनका किसी भी क्षणमें नाश हो सकता है। पहले नाश न भी हुए तो मरनेके समय तो अवश्य ही वे छूट जाते हैं। ऐसे पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये दुर्लभ मनुष्य-जीवनके सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, आस्तिकता, शौच, सन्तोष, सदाचार और ब्रह्मचर्य आदि रत्नोंको लुटा देना बड़ा ही मारक मोह है। यदि यह कहा जाय कि 'हमारी तो और कोई इच्छा नहीं है, हमें तो भौतिक पदार्थोंका संग्रह करके केवल लोकोपकार करना है' तो यह कोई बुरी बात नहीं है। भौतिक पदार्थोंकी प्राप्ति करके या दिन-रात उन्हींकी प्राप्तिके साधनोंमें संलग्न रहकर यदि कोई पापोंसे बचा रह सके, अपने सद्गुणोंको बचाये रख सके और ईश्वरके लिये हृदयमें सदाके लिये स्थान सुरक्षित रख सके तो बहुत ही अच्छी बात है। परन्तु ऐसा होना है बहुत ही कठिन! भोग और भगवान्का एक मनमें एक साथ रहना तो असम्भव ही है। हाँ, यदि सारे भोग ईश्वरार्थ समर्पित कर दिये जायँ और भोगोंका संग्रह भी उसीके लिये होता रहे तो दूसरी बात है। यही निष्काम कर्मयोग है।

परन्तु यह बात कहनेमें जितनी सहज है, समझने और कार्यरूपमें परिणत करनेमें वस्तुतः उतनी ही कठिन है!

आज कितने ऐसे हैं जो इस भावसे संसारमें कार्य करते हैं? कितने ऐसे हैं जो यथार्थ आभ्यन्तरिक उन्नतिका खयाल कर रहे हैं? संसारके सुखोंकी इच्छा आभ्यन्तरिक उन्नतिकी भावनाको दबा देती है। कामनासे ज्ञान हरा जाता है। मोहसे बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। इसीसे मनुष्य उन भोग्य-पदार्थोंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति समझ रहे हैं जिनका सम्बन्ध केवल इस शरीरतक ही है—और उन्हींकी प्राप्तिके लिये अपना तन, मन लगा रहे हैं। इसीलिये आज हम सब एक ही परम पिता ईश्वरकी सन्तान होनेपर भी अभिमानवश एक दूसरेको भिन्न समझ रहे हैं। इसीसे हमने अपने प्रेमकी सीमा इतनी संकुचित कर ली है कि आज जरा-जरासे स्वार्थके लिये एक दूसरेका नाश करनेमें नहीं सकुचाते तथा मोहवश इसीको धर्मके नामसे पुकारते हैं और इसीको उन्नति मानते हैं! भगवान्‌ने गीताके सोलहवें अध्यायमें आत्माका पतन करनेवाली आसुरी सम्पदाके लक्षणोंका विस्तारसे वर्णन किया है—

आसुरी-सम्पत्तिवाले मनुष्य जगत्‌को आश्रयहीन, असत्य, ईश्वरहीन, स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही उत्पन्न और भोगोंके लिये ही

बना हुआ बतलाते हैं। इसप्रकारके दृष्टि-कोणको लेकर वे दुष्ट स्वभावके, मन्दबुद्धि, पराया अहित करनेवाले, क्रूरकर्मी मनुष्य जगत्‌का नाश करनेके लिये उत्पन्न होते हैं। ढोंग, मान और घमण्डसे भरे हुए वे लोग कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर मोहसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण कर संसारमें भ्रष्टाचरण करने लगते हैं। विषय-भोगोंमें लगे हुए वे लोग बस, इतना ही आनन्द मानकर मृत्युकालपर्यन्त अनन्त प्रकारके विषयोंकी चिन्तामें लगे रहते हैं। सैकड़ों प्रकारकी आशाकी फाँसियोंमें बँधे हुए, कामक्रोधसे ही जीवनका उद्देश्य सिद्ध होना समझनेवाले वे लोग विषयभोगोंकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारसे अन्यायपूर्वक धन-संग्रह करनेकी चेष्टामें लगे रहते हैं। आज यह पैदा किया, कल उस मनोरथकी सिद्धि होगी। इतना धन तो मेरे पास हो गया, इतना और हो जायगा। एकको तो आज मार ही डाला, शेष शत्रुओंको भी मारे विना नहीं छोड़ूँगा। मैं ही तो ईश्वर हूँ, मैं ही धन-ऐश्वर्यके भोगका अधिकारी हूँ। सारी सिद्धियाँ, शक्तियाँ और सुख मुझमें ही तो हैं। मैं बड़ा धनवान् हूँ, मेरा बड़ा परिवार है, मेरी समता करनेवाला दूसरा कौन है? मैं धन कमाकर नामके लिये दान करूँगा, यज्ञ करूँगा और मौज उड़ाऊँगा। (गीता १६।८–१५)

इस तरह अपने आपको ही सबसे श्रेष्ठ समझनेवाले ऐसे अभिमानी मनुष्य धन और मानके मदसे मत्त होकर दम्भसे मनमाने तौरपर नाममात्रके लिये यज्ञ करते हैं। अहङ्कार, शरीर-बल, मानसिक दर्प, कामना, क्रोध आदि दुर्गुणोंके परायण होकर वे परनिन्दा करनेवाले दुष्ट लोग अपने और पराये सभी शरीरोंमें स्थित भगवान्‌से द्वेष करते हैं। (गीता १६।१७-१८)

छातीपर हाथ रखकर कहिये। इस बीसवीं शताब्दीके उन्नत मानव-समाजके हम लोगोंके हृदयमें उपर्युक्त आसुरी-सम्पदाके कौन-से धनकी कमी है? जहाँ भोगोंकी लालसा होगी, वहाँ इस धनकी कमी रहेगी भी नहीं! इसीलिये महात्माओंने भोगोंकी निन्दा कर त्यागकी महिमा गायी है। इसीलिये भारतके त्यागी महर्षियोंने हिन्दुओंके चार आश्रमोंमेंसे तीन प्रधान आश्रमोंको (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास) त्यागपूर्ण बनाया है।

इस त्यागकी भावनाको तिलाञ्जलि देकर भोगोंमें ही उन्नतिकी इतिश्री समझनेवाले आसुरी-सम्पत्तिके मनुष्योंका पतन हो जाता है, वे अनेक प्रकारसे भ्रमित-चित्त हो मोहजालमें फँसकर विषय-भोगोंमें ही आसक्त हो रहते हैं, जिसके परिणाममें उन्हें अति अपवित्र नरकोंमें गिरना पड़ता है (गीता १६।१६) भगवान् कहते हैं

कि, सबके हृदयमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करनेवाले उन पापी क्रूर नराधमोंको मैं बारम्बार आसुरी-योनियोंमें पटकता हूँ, वे जन्म-जन्ममें आसुरी-योनियोंको प्राप्त होकर फिर उससे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं, परन्तु मुझको नहीं पा सकते। *'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'* (गीता १६। १९-२०)

अतएव हम लोगोंको चाहिये कि भौतिक उन्नतिके यथार्थ आसुरीस्वरूपको भलीभाँति पहचानकर इसके मोहसे शीघ्र अपनेको मुक्त कर लें और यथार्थ उन्नतिके प्रयत्नमें लगें। संसारमें वह मनुष्य धन्य है जिसके धन, जन, परिवार, कुटुम्ब, मान-प्रतिष्ठा, पद-गौरव आदि कुछ भी नहीं है, जो सब तरहसे दीन, हीन, घृणित और उपेक्षित है; परन्तु जिसका अन्तःकरण दैवी-सम्पदाके दिव्य गुणोंसे विभूषित है, जिसका मन परमात्माके प्रेममें संलग्न है और जिसकी आत्मा परमात्माके मिलनेको छटपटा रही है, ऐसी आत्मा एक ग्रामीण, राजनीतिशून्य, मूर्ख, चाण्डाल, जंगली या कोढ़ी मनुष्यमें भी रह सकती है अतएव किसीके भी नाम-रूपको देखकर घृणा न करो, पता नहीं उसके अन्दर तुमसे और तुम्हारी ऊँची-से-ऊँची कल्पनासे भी बहुत ऊँची आत्मा हो!

तुम्हारा स्वराज्य

स्वराज्य, स्वदेश, स्वजाति आदि शब्द इस समय बहुत ज्यादा प्रचलित हैं, ऐसा कोई समाचारपत्र नहीं, जिसके अंकोंमें इन शब्दोंको स्थान न मिलता हो और वास्तवमें ये शब्द हमारे लिये हैं भी बहुत आवश्यक। स्वजाति और स्वदेशका प्रेम न होनेके कारण ही हम स्वराज्यसे वञ्चित हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यका यह परम कर्तव्य है कि स्वराज्य-की प्राप्तिके लिये स्वदेश और स्वजातिकी सेवामें तन-मन-धन सब कुछ अर्पण कर दे, क्योंकि स्वराज्य हमारा अनादिसिद्ध अधिकार है। जो भाई स्वदेश, स्वजातिकी सेवामें लगे हुए हैं वे सर्वथा स्तुत्य और धन्यवादके पात्र हैं, परन्तु समझना चाहिये कि, इन शब्दोंका यथार्थ अर्थ क्या है और वास्तवमें इनका हमसे क्या सम्बन्ध है? किसी कार्यविशेषसे या बलात्कारसे मनुष्यको जब किसी अन्य देशमें रहना पड़ता है, तब उसे वह स्वदेश मानकर वहाँ नहीं रहता। आज भारतके जो विद्यार्थी शिक्षालाभ-के लिये यूरोपमें रहते हैं या सरकारके अनुचित प्रतिबन्धकके

कारण जिनको विदेशोंमें रहनेके लिये बाध्य होना पड़ रहा है, वे स्वदेश भारतको ही समझते हैं; वे जहाँ रहते हैं, वहाँ उन्हें कोई कष्ट न होनेपर भी उनको उस देशकी अपेक्षा भारत विशेष प्रिय लगता है, वे वहाँ रहते हुए भी भारतका स्मरण करते, भारतकी भलाई चाहते—यथासाध्य भलाई करते और भारतवासियों-से मिलनेमें प्रसन्न होते हैं। कारण यही है कि वे अपने स्वदेश-को भूले नहीं हैं परन्तु उनमेंसे जो परदेशके भोगविलासोंमें अपना मन रमाकर देशको भूल गये हैं, परदेशको ही स्वदेश मानने लगे हैं, उन्होंने अपने धर्म और अपनी सभ्यतासे गिरकर अपने आपको सर्वथा विदेशी बना लिया है, ऐसे लोगोंके कारण देशप्रेमी—भारतवासी दुःखी रहते हैं। वे चाहते हैं कि हमारे ये भूले हुए भाई,—जो ऊपरी चमक-दमकके चकमेमें फँसकर विदेशको स्वदेश और विजातीयको स्वजातीय समझने लगे हैं—किसी तरहसे अपने स्वरूपका स्मरणकर, अपने देश और जातिके गुणोंको जानकर पुनः स्वदेशी बन जायँ तो बड़ा अच्छा हो। स्वदेशी बन जानेका यह अर्थ नहीं कि इस समय वे विदेशी या विजातीय हैं, उन्होंने अपनेको भूल जानेके कारण भ्रमसे विदेशी या विजातीय मानकर विदेशी धर्मको धारण कर लिया है। यदि

वे घर लौट आवें तो उनके लिये घरका दरवाजा सदा ही खुला है और रहना चाहिये, इसीसे जाति और देशहितैषी सज्जन भ्रमसे विधर्मी बने हुए भाइयोंको पुनः स्वधर्ममें दीक्षित करना चाहते हैं।

परन्तु यदि एक ही देशके रहनेवाले दो गाँवोंके लोग या एक ही गाँवमें रहनेवाले दो मुहल्लोंके सजातीय भाई अपनेको अलग-अलग मान लें; गाँव और मुहल्लोंके भेदसे परस्पर परभाव कर लें; अपने गाँवको या मुहल्लेको ही देश और दूसरे भाइयोंके निवासस्थान गाँव और मुहल्लोंको परदेश मान लें तो बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। देश और जातिके शरीरका सारा संगठन विशृंखल हो जाता है। उसके सब अवयवोंमें दुर्बलता आ जाती है जिसका परिणाम सिवा मृत्युके और कुछ नहीं होता। सच पूछिये तो इन क्षुद्र भावोंके कारण ही आज भारत पर-पद-दलित और परतन्त्र है। यदि भारतवासी अपने-अपने प्रान्त, छोटे राज्य, गाँव या मुहल्लोंको ही देश न मानकर सबकी समष्टिको स्वदेश मानते तो भारतका इतिहास और इसका मानचित्र आज दूसरे ही प्रकारका होता। अब भी इस देशके सभी निवासी अपनी-अपनी डफली अलग बजाना छोड़कर एक सूत्रमें बँध जायँ और प्रान्तीयता

तथा जातिगत झगड़ोंको छोड़कर एक राष्ट्रीयता स्वीकार कर लें तो भारतको स्वराज्यकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता। पर क्या भारत ही हमारा देश है, भारतवासियोंकी जाति ही हमारी स्वजाति है और भारतको मिलनेवाला राजनैतिक अधिकार ही हमारा स्वराज्य है?

आध्यात्मिकताका आदिगुरु, परमार्थ-सन्देशका नित्यवाहक, परमात्म-तत्त्वका विवेचक, परमात्माके साकार अवतारोंकी लीलाभूमि, जगत्के धर्माचार्य और पैगम्बरोंकी जन्मभूमि, मुक्तिपथके पथिकों-को पाथेय वितरण करनेवाला भारत इस प्रश्नका क्या उत्तर देता है?

इहलौकिक उन्नतिको ही जीवनका चरम लक्ष्य माननेवाले स्थूलवाद-प्रधान जगत्का तो भूमि-खण्डके किसी एक क्षुद्र खण्डको देश मानना, जिस कल्पित जातिमें स्थूल शरीर जन्मा हो उसीमें जन्म लेनेवालोंको स्वजाति बतलाना और उस देश या जातिको अपनी मनमानी करनेके अधिकारको ही स्वराज्य मानना सम्भव है। परन्तु भारतवासी ~~और~~ अखिल ब्रह्माण्डको ब्रह्मके एक अंशमें स्थित और ब्रह्माण्डमें ब्रह्मको नित्य स्थित या चराचर ब्रह्माण्ड-को ब्रह्मका ही विवर्त माननेवाले भारतवासी यदि अपने असली

ब्रह्मस्वरूपको भूलकर मायाकल्पित आपातरमणीय मायिक सुन्दर-तायुक्त स्थलविशेषको ही अपना स्वदेश मान लें तो क्या ब्रह्मकी राष्ट्रीयताका विघातक नहीं है? मायासे बने हुए जगत्को अपना देश मानकर उसीमें मोहित रहना क्या विदेशको स्वदेश मान लेना नहीं है?

अपनी सच्चिदानन्दरूप नित्य अखण्ड स्वाभाविक सत्ताको भूलकर मायिक सत्ताको ही अपनी सत्ता मान लेना क्या सजातीयताको छोड़कर विजातीय बन जाना नहीं है? अपने '*सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म*' स्वरूपको विस्मृतकर अपने मूल स्वभाव-धर्मको छोड़कर जगत्के मायिक धर्मको अपना धर्म मान लेना क्या विधर्मी बन जाना नहीं है?

विचार करो तुम कौन हो? तुम अमर हो, तुम सुखरूप हो, तुम नित्य हो, तुम सर्वव्यापी हो, तुम अखण्ड हो, तुम पूर्ण हो, तुम अजर हो, तुम सबमें व्याप्त हो, तुम मायासे अतीत हो, तुम्हारी ही सत्तासे जगत्का अस्तित्व है, तुम्हारे ही सौन्दर्यसे जगत् सुन्दर है, तुम्हारी ही महिमासे विश्व महिमान्वित है, तुम्हारे ही प्रकाशसे जगत् प्रकाशित है, तीनों लोक तुम्हारे ही अन्दर तुम्हारी ही मायासे प्रतिभासित हैं, अरे! अपने इस

गौरवका स्मरण करो, स्वरूपका अनुसन्धान करो, उसे प्राप्त करो, फिर देखोगे, जगत्‌भरमें तुम्हीं भरे हो, सभी देश, सभी जाति तुम्हारे ही अन्दर कल्पित हैं, तुम्हारे ही अखण्ड राज्यमें सबका निवास है। तुम्हारा स्वराज्य नित्य प्रतिष्ठित है।

इस असली स्वरूपको भूलकर छोटे मत बनो, अपनी विशाल सत्ताको क्षुद्र सीमासे मर्यादित न करो, अपने सत्, चित्, आनन्दस्वरूप स्वधर्मसे च्युत मत होओ, मायाके विजातीय आवरणसे अपनेको कभी आच्छादित न होने दो। तुम्हारा स्वदेश, तुम्हारी स्वजाति और तुम्हारा स्वराज्य तो तुम स्वयं हो। और तुम्हारी ही सत्ता सम्पूर्ण दिशाओंमें विकीर्ण हो रही है। जगत्‌के सारे देश, सारी जातियाँ और सारे राज्य-कल्पनाकी समस्त सामग्रियाँ तुम्हारे ही अन्दर प्रतिष्ठित हैं। फिर अपने विशाल समष्टि-से निकलकर क्षुद्र व्यष्टिके अहंकारसे राग-द्वेषके वशीभूत क्यों होते हो?

तुम अमृत हो—सत्य हो, ज्ञानस्वरूप हो, अनन्त हो, ब्रह्म हो, सच्चिदानन्दघन हो! अपनी ओर देखो और तृप्त हो रहो! तुम हो '*सत्यं शिवं सुन्दरम्*'

दीवानोंकी दुनियाँ

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो सब भूतप्राणियोंके लिये रात्रि है, संयमी पुरुष उसमें जागता है और सब भूतप्राणी जिसमें जागते हैं, तत्त्वदर्शी मुनिके लिये वह रात्रि है।' अर्थात्

साधारण भूतप्राणी और यथार्थ तत्त्वके जाननेवाले अन्तर्मुखी योगियोंके ज्ञानमें रात-दिनका अन्तर है। साधारण संसारी लोगोंकी स्थिति क्षणभंगुर विनाशशील सांसारिक भोगोंमें होती है, उल्लूके लिये रात्रिकी भाँति उनकी दृष्टिमें वही परम सुखकर हैं परन्तु इसके विपरीत तत्त्वदर्शियोंकी स्थिति नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द परमात्मामें होती है; उनके विचारमें सांसारिक विषयों-की सत्ता ही नहीं है, तब उनमें सुखकी प्रतीति तो होती ही कहाँसे? इसीलिये सांसारिक मनुष्य जहाँ विषयोंके संग्रह और भोगोंमें लगे रहते हैं,—उनका जीवन भोग-परायण रहता है, वहाँ तत्त्वज्ञ पुरुष न तो विषयोंकी कोई परवा करते हैं और न भोगोंको कोई वस्तु ही समझते हैं। साधारण लोगोंकी दृष्टिमें ऐसे महात्मा मूर्ख और पागल जँचते हैं, परन्तु महात्माओंकी दृष्टिमें तो एक ब्रह्मकी अखण्ड सत्ताके सिवा मूर्ख-विद्वान्‌की कोई पहेली ही नहीं रह जाती। इसीलिये वे जगत्‌को सत्य और सुखरूप समझनेवाले अविद्याके फन्देमें फँसकर रागद्वेषके आश्रयसे भोगोंमें रचे-पचे हुए लोगोंको समय-समयपर सावधान करके उन्हें जीवनका यथार्थ पथ दिखलाया करते हैं। ऐसे पुरुष जीवन-मृत्यु दोनोंसे ऊपर उठे हुए होते हैं। अन्तर्जगत्‌में प्रविष्ट होकर दिव्यदृष्टि

प्राप्त कर लेनेके कारण इनकी दृष्टिमें वहिर्जगत्का स्वरूप कुछ विलक्षण ही हो जाता है। ऐसे ही महात्माओंके लिये भगवान्ने कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

'सब कुछ एक वासुदेव ही है, ऐसा मानने-जाननेवाला महात्मा अति दुर्लभ है।' ऐसे महात्मा देखते हैं कि 'सारा जगत् केवल एक परमात्माका ही विस्तार है,वही अनेक रूपोंसे इस संसारमें व्यक्त हो रहे हैं। प्रत्येक व्यक्त वस्तुके अन्दर परमात्मा व्याप्त हैं। असलमें व्यक्त वस्तु भी उस अव्यक्तसे भिन्न नहीं है। परम रहस्यमय वह एक परमात्मा ही अपनी लीलासे भिन्न-भिन्न व्यक्तरूपोंमें प्रतिभासित हो रहे हैं, जिनको प्रतिभासित होते हैं, उनकी सत्ता भी उन परमात्मासे पृथक् नहीं है।' ऐसे महात्मा ही परमात्माकी इस अद्भुत रहस्यमय पवित्र गीतोक्त घोषणाका पद-पदपर प्रत्यक्ष करते हैं कि—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

'मुझ सच्चिदानन्दघन अव्यक्त परमात्मासे यह समस्त विश्व परिपूर्ण है, और ये समस्त भूत मुझमें स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, ये समस्त भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरी योगमाया और प्रभावको देख, कि समस्त भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला मेरा आत्मा उन भूतोंमें स्थित नहीं है।' अजब पहेली है, पहले आप कहते हैं कि 'मेरे अव्यक्त स्वरूपसे सारा जगत् भरा है, फिर कहते हैं, जगत् मुझमें है, मैं उसमें नहीं हूँ, इसके बाद ही कह देते हैं कि न तो यह जगत् ही मुझमें है और न मैं ही इसमें हूँ। यह सब मेरी मायाका अप्रतिम प्रभाव है—मेरी लीला है।' यह अजब उलझन उन महात्माओंकी बुद्धिमें सुलझी हुई होती है, वे इसका यथार्थ मर्म समझते हैं। वे जानते हैं कि जगत्में परमात्मा उसी तरह सत्स्वरूपसे परिपूर्ण है, जैसे जलसे बर्फ ओतप्रोत रहती है यानी जल ही बर्फके रूपमें भास रहा है। यह सारा विश्व कोई भिन्न वस्तु नहीं है; परमात्माके सङ्कल्पसे, बाजीगरके खेलकी भाँति, उस सङ्कल्पके ही आधारपर स्थित है। जब कोई भिन्न वस्तु ही नहीं है तब उसमें किसीकी स्थिति कैसी? इसीलिये परमात्माके सङ्कल्पमें ही विश्वकी स्थिति होनेके कारण वास्तवमें परमात्मा उसमें स्थित नहीं है, परन्तु विश्वकी

यह स्थिति भी परमात्मामें वास्तविक नहीं है, यह तो उनका एक सङ्कल्पमात्र है। वास्तवमें केवल परमात्मा ही अपने आपमें लीला कर रहे हैं, यही उनका रहस्य है। इस रहस्यको तत्त्वसे समझनेके कारण ही महात्माओंकी दृष्टि दूसरी हो जाती है। इसीलिये वे प्रत्येक शुभाशुभ घटनामें सम रहते हैं—जगत्‌का बड़े-से-बड़ा लाभ उनको आकर्षित नहीं कर सकता, क्योंकि वे जिस परम वस्तुको पहचानकर प्राप्त कर चुके हैं उसके सामने कोई लाभ, लाभ ही नहीं है। इसी प्रकार लोकदृष्टिसे भासनेवाले महान्‌-से-महान्‌ दुःखमें भी वे विचलित नहीं होते, क्योंकि उनकी दृष्टिमें दुःख-सुख कोई (ईश्वरसे भिन्न) वस्तु ही नहीं रह गये हैं। ऐसे महापुरुष ही ब्रह्ममें नित्य स्थित समझे जाते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥

ऐसे स्थिरबुद्धि संशय-शून्य ब्रह्मवित्‌ महात्मा लोकदृष्टिसे प्रिय प्रतीत होनेवाली वस्तुको पाकर हर्षित नहीं होते और लोक-दृष्टिसे अप्रिय पदार्थको पाकर उद्विग्न नहीं होते, क्योंकि वे

सच्चिदानन्दघन सर्वरूप परब्रह्म परमात्मामें नित्य अभिन्नभावसे स्थित हैं। जगत्‌के लोगोंको जिस घटनामें अमंगल दीखता है, महात्माओंकी दृष्टिमें वही घटना ब्रह्मसे ओतप्रोत होती है, इसलिये वे न तो ऐसी किसी घटनाका विरोध करते हैं और न उससे विपरीत घटनाके लिये आकांक्षा करते हैं, क्योंकि वे सांसारिक शुभाशुभके परित्यागी हैं।

ऐसे महापुरुषोंद्वारा जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, उनसे कभी जगत्‌का अमंगल नहीं हो सकता, चाहे वे क्रियाएँ लोकदृष्टिमें प्रतिकूल ही प्रतीत होती हों। सत्यपर स्थित और केवल सत्यके ही लक्ष्यपर चलनेवाले लोगोंकी चाल, विपरीतगति असत्यपरायण लोगोंको प्रतिकूल प्रतीत हो सकती है और वे सब उनको दोषी भी बतला सकते हैं, परन्तु सत्यपर स्थित महात्मा उन लोगोंकी कोई परवा नहीं करते! वे अपने लक्ष्यपर सदा अटलरूपसे स्थित रहते हैं। लोगोंकी दृष्टिमें महाभारत-युद्धसे भारतवर्षकी बहुत हानि हुई, पर जिन परमात्माके संकेतसे यह संहार-लीला सम्पन्न हुई उनकी, और उनके रहस्यको समझनेवाले दिव्यकर्मी पुरुषोंकी दृष्टिमें उससे देश और विश्वका बड़ा भारी मंगल हुआ। इसीलिये दिव्यकर्मी अर्जुन भगवान्‌के सङ्केतानुसार सब प्रकारके

धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल भगवान्‌के वचनके अनुसार ही महासंग्रामके लिये सहर्ष प्रस्तुत हो गये थे। जगत्‌में ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं जो बहुसंख्यक लोगोंके मतसे बुरी होनेपर भी उनके तत्त्वज्ञके मतमें अच्छी होती हैं और यथार्थमें अच्छी ही होती हैं, जिनका अच्छापन समयपर बहुसंख्यक लोगोंके सामने प्रकट और प्रसिद्ध होनेपर वे उसे मान भी लेते हैं, अथवा ऐसा भी होता है कि उनका अच्छापन कभी प्रसिद्ध ही नहीं हो पाता। परन्तु इससे उनके अच्छे होनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। सत्य कभी असत्य नहीं हो सकता, चाहे उसे सारा संसार सदा असत्य ही समझता रहे। अतएव जो भगवत्तत्त्व और भगवान्‌की दिव्य लीलाका रहस्य समझते हैं, उनके दृष्टिकोणमें जो कुछ यथार्थ प्रतीत होता है वही यथार्थ है। परन्तु उनकी यथार्थ प्रतीति साधारण बहुसंख्यक लोगोंकी समझसे प्रायः प्रतिकूल ही हुआ करती है। क्योंकि दोनोंके ध्येय और साधनमें पूरी प्रतिकूलता रहती है।

सांसारिक लोग धन, मान, ऐश्वर्य, प्रभुता, बल, कीर्ति आदिकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी कुछ भी परवा न कर अपना सारा जीवन इन्हीं पदार्थोंके प्राप्त करनेमें लगा देते हैं और इसीको

परम पुरुषार्थ मानते हैं। इसके विपरीत परमात्माकी प्राप्तिके अभिलाषी पुरुष परमात्माके लिये इन सारी लोभनीय वस्तुओंका तृणवत्, नहीं नहीं विषवत् परित्याग कर देते हैं और उसीमें उनको बड़ा आनन्द मिलता है। पहलेको मान प्राण-समान प्रिय है तो दूसरा मान-प्रतिष्ठाको शूकरी-विष्ठा समझता है। पहला धनको जीवनका आधार समझता है तो दूसरा लौकिक धनको परमधनकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक मानकर उसका त्याग कर देता है। पहला प्रभुता प्राप्त कर जगत्पर शासन करना चाहता है तो दूसरा '*तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना*' बनकर महापुरुषोंके चरणकी रजका अभिषेक करनेमें ही अपना मंगल मानता है। दोनोंके भिन्न-भिन्न ध्येय और मार्ग हैं। ऐसी स्थितिमें एक दूसरे-को पथभ्रान्त समझना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह तो विषयी और मुमुक्षुका अन्तर है। परन्तु इससे पहले किये हुए विवेचनके अनुसार मुक्त अथवा भगवदीय लीलामें सम्मिलित भक्तके लिये तो जगत्का स्वरूप ही बदल जाता है। इसीसे वह इस खेलसे मोहित नहीं होता। जब छोटे लड़के काँचके या मिट्टीके खिलौनोंसे खेलते और उनके लेन-देन ब्याह-शादीमें लगे रहते हैं, तब बड़े लोग उनके खेलको देखकर हँसा करते हैं, परन्तु छोटे

बच्चोंकी दृष्टिमें वह बड़ोंकी भाँति कल्पित वस्तुओंका खेल नहीं होता। वे उसे सत्य समझते हैं और जरा-जरा-सी वस्तुके लिये लड़ते हैं, किसी खिलौनेके टूट जाने या छिन जानेपर वे रोते हैं वास्तवमें उनके मनमें बड़ा कष्ट होता है। नया खिलौना मिल जानेपर वे बहुत हर्षित होते हैं! जब माता-पिता किसी ऐसे बच्चेको, जिसके मिट्टीके खिलौने टूट गये हैं या छिन गये हैं रोते देखते हैं तो उसे प्रसन्न करनेके लिये कुछ खिलौने और दे देते हैं, जिससे वह बच्चा चुप हो जाता है और अपने मनमें बहुत हर्षित होता है परन्तु सच्चे हितैषी माता-पिता बालकको केवल खिलौना देकर ही हर्षित नहीं करना चाहते, क्योंकि इससे तो इस खिलौनेके टूटनेपर भी उन्हें फिर रोना पड़ेगा। अतएव वे समझाकर उनका यह भ्रम भी दूर कर देना चाहते हैं कि खिलौने वास्तवमें सच्ची वस्तु नहीं हैं। मिट्टीकी मामूली चीज हैं, उनके जाने-आने या बनने-बिगड़नेमें कोई विशेष लाभ-हानि नहीं है। इसी प्रकारकी दशा संसारके मनुष्योंकी हो रही है। संसारके लोग जिन सब वस्तुओंके नाश हो जानेपर रोते और पुनः मिलनेकी आकांक्षा करते हैं या जिनकी अप्राप्तिमें अभावका अनुभव कर दुखी होते हैं और प्राप्त होनेपर हर्षसे फूल जाते हैं, तत्त्वदर्शी पुरुष इस

तरह नहीं करते, वे इस रहस्यको समझते हैं, इसलिये वे समय-समयपर बच्चोंके साथ बच्चे-से बनकर खेलते हैं, बच्चोंके खेलमें शामिल हो जाते हैं परन्तु होते हैं उन बच्चोंको खेलका असली तत्त्व समझाकर सदाको शोक-मुक्त कर देनेके लिये ही !

ऐसे भगवान्‌के प्यारे भक्त विश्वकी प्रत्येक क्रियामें परमात्मा-की लीलाका अनुभव करते हैं। वे सभी अनुकूल और प्रतिकूल घटनाओंमें परमात्माको ओतप्रोत समझकर, लीलारूपमें उनको अवतरित समझकर, उनके नित्य नये-नये खेलोंको देखकर प्रसन्न होते हैं और सब समय सब तरहसे और सब ओरसे सन्तुष्ट रहते हैं। ऐसे लोगोंको जगत्‌के लोग—जिनका मन भोगोंमें,उन्हें सुखरूप समझ-कर फँसा हुआ है, स्वार्थी, अकर्मण्य, आलसी, पागल, दीवाने और भ्रान्त समझते हैं, परन्तु वे क्या होते हैं, इस बातका पता वास्तवमें उन्हींको रहता है। ऐसे दीवानोंकी दुनियाँ दूसरी ही होती है, उस दुनियाँमें कभी राग-द्वेष, रोग-शोक, सुख-दुःख नहीं होते, वह दुनियाँ सूर्य-चन्द्रसे प्रकाशित नहीं होती, स्वतः प्रकाशित रहती है; इतना ही नहीं, उसी दुनियाँके परम प्रकाशसे सारे विश्वको प्रकाश मिलता है।

गीताका पर्यवसान साकार ईश्वरकी शरणागतिमें है

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् सच्चिदानन्दकी दिव्य वाणी है, इसका यथार्थ अर्थ भगवान् ही जानते हैं, हम लोग अपनी-अपनी भावना और दृष्टिकोणके अनुसार गीताका अर्थ निकालते हैं, यही स्वाभाविक भी है। परन्तु स्वयं भगवान्‌की वाणी होनेसे गीता ऐसा आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है कि किसी तरह भी इसकी शरण ग्रहण करनेसे शेषमें परमात्म-प्रेमका पथ मिल ही जाता है। गीतापर अबतक अनेक टीकाएँ बनी हैं और भिन्न-भिन्न महानुभावोंने गीताका प्रतिपाद्य विषय भी भिन्न-भिन्न बतलाया

है, उन विद्वानों और पूज्य पुरुषोंके चरणोंमें ससम्मान नमस्कार करता हुआ, उनके विचारोंका कुछ भी खण्डन करनेकी तनिक-सी भी इच्छा न रखता हुआ, मैं पाठकोंके सामने अपने मनकी बात रखना चाहता हूँ। शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञानयोग, ध्यानयोग, समाधि-योग, कर्मयोग आदि सर्वथा उपादेय हैं और प्रसंगवश गीतामें इनका उल्लेख भी पूर्णरूपसे है, परन्तु मेरी समझसे गीताका पर्यवसान 'साकार भगवान्‌की शरणागति' में है और यही गीताका प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। गीताके प्रधान श्रोता अर्जुनके जीवनसे यही सिद्ध होता है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके बड़े प्रेमी सखा थे, उनके चुने हुए मित्र थे, आहार-विहार-भोजन-शयन सभीमें साथ रहते थे, अर्जुनने भगवान्‌को अपने जीवनका आधार बना लिया था, इसी-लिये उनके ऐश्वर्यकी तनिक-सी भी परवा न कर मधुररूप प्रियतम उन्हींको अपना एकमात्र सहायक और संगी बनाकर अपने रथकी या जीवनकी बागडोर उन्हींके हाथमें सौंप दी थी। दुर्योधन उनकी करोड़ों सेनाको ले गया, परन्तु इस बातका अर्जुनके मनमें कुछ भी असन्तोष नहीं था। उसके हृदयमें सेनाबल—जड़बलकी अपेक्षा प्यारे श्रीकृष्णके प्रेम-बलपर कहीं अधिक विश्वास था। इसीलिये

भगवान्‌की आज्ञासे अर्जुन युद्धमें प्रवृत्त हुए थे। परन्तु युद्धक्षेत्रमें पहुँचते ही वे इस भगवत्-निर्भरताको भूल गये। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे युद्धमें प्रवृत्त होनेपर उन्हें वीचमें अपनी बुद्धि लगाकर युद्धको बुरा बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु बड़े समझदार अर्जुनके मनमें यहाँ अपनी समझदारीका अभिमान जागृत हो उठा, और इसीसे वे लीलामय प्रियतम भगवान्‌की प्रेरणाके विरुद्ध 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' कहकर चुप हो बैठे। यही अर्जुनका मोह था। एक ओर निर्भरता छूटनेसे चित्त अनाधार होकर अस्थिर हो रहा था, जिससे चेहरेपर विषादकी रेखाएँ स्पष्टरूपसे प्रस्फुटित हो उठी थीं, परन्तु दूसरी ओर ज्ञानाभिमान जोर दे रहा था, इसीपर भगवान्‌ने अर्जुनको प्रज्ञावादियोंकी-सी बातें कहनेवाला कहकर चेतावनी दी। उनको स्मरण दिलाया कि, 'तुझे इस ज्ञान-विवेकसे क्या मतलब है, तू तो मेरी लीलाका यन्त्र है, मेरी इच्छानुसार लीलाक्षेत्रमें खेलका साधन बना रह।' परन्तु अपने ज्ञानके अभिमानसे मोहित अर्जुन-को इस तत्त्वकी स्मृति नहीं हुई, इसीलिये भगवान्‌ने आत्मज्ञान, कर्म, ध्यान, समाधि, भक्ति आदि अनेक विषयोंका उपदेश दिया, बीच-बीचमें कई तरहसे सावधान करनेका प्रयत्न भी चालू रक्खा,

अपना प्रभाव, ऐश्वर्य, सत्ता, व्यापकता, विभुत्व आदि स्पष्टरूपसे दिखलानेके साथ ही लीलाका संकेत भी किया, बीच-बीचमें चुटकियाँ लीं, भय दिखलाया, अर्जुन उनके ऐश्वर्यमय कालरूपको देखकर काँपने लगे, स्तुति की, परन्तु उन्हें वास्तविक लीला-कार्यकी पूर्व-स्मृति नहीं हुई। इससे अन्तमें परम प्रेमी भगवान्‌ने १८ वें अध्यायके ६४ वें श्लोकमें अपने पूर्वकृत उपदेशकी गौणता बतलाते हुए अगले उपदेशको 'सर्वगुह्यतम' कहकर अपना हृदय खोलकर रख दिया। यहाँका प्रसंग भगवान्‌की दयालुता और उनके प्रेमानन्त-समुद्रका बड़ा सुन्दर उदाहरण है। अपना प्रिय सखा, अपनी लीलाका यन्त्र, निज ज्ञानके व्यामोहमें लीलाकार्यको विस्मृत हो गया, अतएव उससे कहने लगे—'प्रियवर! मेरे परम प्यारे! इन पूर्वोक्त उपदेशोंसे तुझे कोई मतलब नहीं है, तू अपने स्वरूपको पहचान, तू मेरा प्यारा है—अपना है, इस बातका स्मरण कर, इसीमें तेरा हित है, मेरे ही कार्यके लिये मेरे अंशसे तेरा अवतार है। अतएव तू मुझीमें मन लगा ले, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, तू मेरा प्यारा अंग है, मुझीको प्राप्त होगा, पूर्वोक्त सारे धर्मका आश्रय या उनमें अपना कर्तव्यज्ञान छोड़कर

केवल मेरी लीलाका यन्त्र बना रह, एक मेरी ही शरणमें पड़ा रह, तुझे पाप-पुण्यसे क्या मतलब, तुझे चिन्ता भी कैसी, मैं आप ही सब सम्हालूँगा। मेरा काम मैं आप करूँगा, तू तो अपने स्वरूपको स्मरण कर, अपने अवतारके हेतुको सिद्ध कर, मुझ लीलामयकी विश्वलीलामें लीलाका साधन बना रह।'

बस, इस उपदेशसे अर्जुनकी आँखें खुल गयीं, उन्हें अपने स्वरूपकी स्मृति हो गयी। 'मैं लीलाका साधन हूँ, भगवान्‌के हाथका खिलौना हूँ, इनके शरणमें पड़ा हुआ किंकर हूँ' यह बात स्मरण हो आयी, तुरन्त मोह नष्ट हो गया और तत्काल अर्जुन लीलामें सम्मिलित हो गये, लीला आरम्भ हो गयी।

अर्जुनने भगवान्‌के उपर्युक्त गीतोक्त अन्तिम वचनोंको सुनते ही पिछले ज्ञानोपदेशसे मन हटा लिया। अपने आपको भगवान्‌की लीलामें समर्पित करके अर्जुन निश्चिन्त हो गये और लीलामयकी इच्छा तथा संकेतानुसार प्रत्येक कार्य करते रहे।

महाभारतकी संहार-लीला समाप्त हुई, अश्वमेधलीला हुई, अब अर्जुनको शान्तिके समय भगवान्‌की ज्ञानलीलामें सम्मिलित होनेकी आवश्यकता जान पड़ी, परन्तु गीतोक्त ज्ञानकी तो उन्होंने कोई परवा ही नहीं की थी। उन्हें कोई आवश्यकता भी नहीं थी,

क्योंकि वे तो 'सर्वोत्तम सर्वगुह्यतम' शरणागतिका परम मन्त्र ग्रहणकर भगवान्‌के यन्त्र वन चुके थे। भगवान् दूसरी लीलाके लिये द्वारका जानेकी तैयारी करने लगे। अर्जुनको इधर ज्ञानलीलाके प्रसारमें साधन वनना था, इससे एक दिन उन्होंने एकान्तमें भगवान्‌से पूछा कि 'हे प्रियतम! हे लीलामय! संग्रामके समय मैं आपके '*माहात्म्यम्*' और '*रूपमैश्वरम्*' को जान चुका हूँ, उस समय आपने मुझे जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसे मैं भूल गया हूँ, आप शीघ्र द्वारका जाते हैं, मुझे वह ज्ञान एक वार फिर सुना दीजिये। मेरे मनमें उसे फिरसे सुननेके लिये वार-वार कौतूहल होता है।' भगवान्‌ने अर्जुनको उलाहना देते हुए कहा कि 'तैंने वड़ी भूल की, जो ध्यान देकर उस ज्ञानको याद नहीं रक्खा, उस समय मैंने योगमें स्थित होकर ही तुझे 'गुह्य' सनातन ज्ञान सुनाया था, (*श्रावितस्त्वं मया 'गुह्यं' ज्ञापितश्च सनातनम्। महा० अ० १६।९*) अब मैं उसे उसी रूपमें दुवारा नहीं सुना सकता, तथापि तुझे दूसरी तरहसे वह ज्ञान सुनाता हूँ।' (इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान् वह ज्ञान पुनः सुनानेमें असमर्थ थे, अचिन्त्य शक्ति सच्चिदानन्दके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है). भगवान्‌का उलाहना देना युक्तियुक्त ही

है, क्योंकि शरणागतिके 'सवगुह्यतम' भावमें स्थित होनेपर भी सब तरहकी लीला-विस्तारमें सम्मिलित होनेके लिये ज्ञानयोगादि-के भी स्मरण रखनेकी आवश्यकता थी, लीला-कार्यमें पूर्ण योग देनेके लिये इसका प्रयोजन था, इसीलिये भगवान्‌ने फटकार बतायी, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अर्जुन भगवत्-शरणागतिरूप गीताके प्रतिपाद्यको भूल गये थे। श्रीकृष्ण-शरणागतिमें तो उनका जीवन रँगा हुआ था, दूसरे शब्दोंमें श्रीकृष्ण-शरणागतिके तो वे मूर्तिमान् जीते-जागते स्वरूप थे। प्रेम और निर्भरताके नशेमें ज्ञानकी वे विशेष बातें जो जगत्‌के लोगोंके लिये आवश्यक थीं, अर्जुन भूल गये थे, जो भगवान्‌ने 'अनुगीता' के स्वरूपमें प्रकारान्तरसे उन्हें फिर समझा दीं। अनुगीताके आरम्भमें भगवान्‌के द्वारा कथित 'गुह्य' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने उसी ज्ञानके भूल जानेके कारण अर्जुनको फटकारा है, जो 'गुह्य' था। न कि 'सर्वगुह्यतम।' अनुगीताके प्रसंगसे अर्जुनको ज्ञानभ्रष्ट समझना गीतोक्त उपदेशको विस्मृत हो जानेवाला जानना और भगवान्‌की वक्तृत्व और स्मृतिशक्तिमें मर्यादितपन मानना हमारी भूलके सिवा और कुछ नहीं है।

गीताके प्राण, गीताका हृदय, गीताका उद्देश्य, गीताका ज्ञान, गीताकी गति, गीताका उपक्रम-उपसंहार और गीताका तात्पर्यार्थ 'साकार भगवान्‌की शरणागति' है, उसके सम्बन्धमें अर्जुनको कभी व्यामोह नहीं हुआ। इस लोकमें तो क्या इससे पहले और पीछेके सभी लोकों और अवस्थाओंमें वह इसी शरणागत-सेवककी स्थितिमें रहे। इसीलिये महाभारतकारने अर्जुनकी सायुज्य-मुक्ति नहीं बतलायी जो सत्य तत्त्व है। क्योंकि लीलामयकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले परम ज्ञानी नित्यमुक्त अनुचर निज-जनोंके लिये मुक्ति अनावश्यक है।

भगवान् श्रीकृष्ण भक्त उद्धवसे कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

'जिन भक्तोंने मेरे प्रति अपना आत्म-समर्पण कर दिया है वे मुझे छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती-राज्य, पातालका साम्राज्य, योगकी सिद्धियाँ यहाँतक कि अपुनरावर्ती (सायुज्य मोक्ष) भी नहीं चाहते।' वास्तवमें भगवान्‌की लीलामें लगे हुए शरणागत भक्तको मुक्तिकी परवा ही क्यों होने लगी! सच्ची बात

तो यह है कि जबतक (*भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।*) भोग-मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा हृदयमें रहती है, तबतक लीलामें सम्मिलित होनेका भाव ही नहीं उत्पन्न होता, या तो वह जगत्के भोगोंमें रहना चाहता है, या जगत्से भागकर छूटना चाहता है । लीलामें योग देना नहीं चाहता । अर्जुन तो लीलामें सम्मिलित थे, बीचमें अपने ज्ञानाभिमानका मोह हुआ, भगवान्की ओरसे सौंपे हुए पार्टको छोड़कर दूसरा मनमाना पार्ट खेलनेकी इच्छा हुई, यह मोह भगवान्ने गीतोक्त *'सर्वगुह्यतम'* उपदेशसे नष्ट कर दिया, अर्जुन स्व-स्थ हो गये । इसीलिये इस लोककी लीलाके बाद परमधाममें भी अर्जुन भगवान्की सेवामें ही संलग्न देखे जाते हैं । धर्मराज युधिष्ठिर दिव्य देह धारण कर देवताओं, महर्षियों और मरुद्गणोंसे स्तुति किये हुए उन स्थानोंमें गये, जहाँ कुरुकुलके उत्तम पुरुष पहुँचे थे । इसके बाद वे परम धाममें भगवान् गोविन्द श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम् ।
× × × ×
दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम् ।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः ॥

उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा।
तथा स्वरूपं कौन्तेयो ददर्श मधुसूदनम्॥
(महा० स्वर्गा० ४।२ से ४)

'धर्मराजने वहाँ अपने ब्राह्म शरीरसे युक्त गोविन्द श्रीकृष्णको देखा, वे अपने शरीरसे देदीप्यमान थे। उनके पास चक्र आदि दिव्य और घोर अस्त्र पुरुषका शरीर धारण किये हुए उनकी सेवा कर रहे थे। महान् तेजस्वी वीर अर्जुन (फाल्गुन) उनकी सेवा कर रहे थे। ऐसे स्वरूपमें युधिष्ठिरने भगवान् मधुसूदनको देखा।' इस विवेचनसे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि गीताका पर्यवसान या प्रतिपाद्य विषय 'साकार ईश्वरकी शरणागति' है, यही परम गुह्यतम तत्त्व भगवान्ने अर्जुनको समझाया, यही उन्होंने समझा और उनके इस लोक तथा दिव्य भागवत-धामका दिव्य जीवन इसीका ज्वलन्त प्रमाण है। इससे कोई यह न समझे कि भगवान् और अर्जुन दिव्य परम धाममें साकाररूपमें रहनेके कारण उसीमें सीमाबद्ध हैं, वे लीलासे दिव्य साकार-विग्रहमें रहनेपर भी अनन्त और असीम हैं।

गुरु-शिष्य-संवाद

'प्यास लगी है ? जल चाहते हो ? तो जाओ ! पीछे लौट जाओ ! तुम्हारे गाँवमें ही सरोवर भरा है, बड़ा मधुर जल है, अमृत है, उसे पीकर तृप्त होओ ! क्या तुम्हें वह सरोवर नहीं दीख पड़ा ? तभी तो यहाँ दौड़े आये हो और दौड़ रहे हो । ठहरो ! आगे मत बढ़ो । अरे, अब भी नहीं सुनते ? कहाँ जाते हो आगे ! क्या वहाँ जल धरा है ? देखो ! गाँवके सरोवरको छोड़-

कर इधर आनेवाले तुम-जैसे कितने गँवार प्यासोंकी लाशें पड़ी सड़ रही हैं। ढेर लगा है! तुम्हारी भी यही दशा होगी! छटपटाकर मर जाओगे! यहाँ जलका नाम-निशान भी नहीं है। दुपहरके सूर्यकी किरणोंसे तुम्हें इस जगह जलका भ्रम हो रहा है। कितनी दूर आ गये? क्या तुम्हें राहमें कहीं जलकी बूँद भी मिली? जल तो पहलेसे ही दीखता था। यह दीखना बन्द भी नहीं होगा। जितना आगे दौड़ोगे, उतना ही आगे दीखेगा, मिलेगा कभी नहीं! मिले कहाँसे? हो तब न! जब थक जाओगे, दौड़ते-दौड़ते दम भर जायगा, तब गिर पड़ोगे। एक तो भयानक प्यास, दूसरे धूपकी गरमी और तीसरे थकावट! बेहोश हो जाओगे, मर जाओगे! इससे भाई! लौट जाओ। चलो, तुम्हें जल्दी ही तुम्हारे गाँव पहुँचा देता हूँ। देखो, इस राहसे जाओ, तुम जिस राहसे आये थे, वह बड़ी लम्बी है। मैं बताता हूँ। इस राहसे जाओगे तो अभी तुरन्त पहुँच जाओगे। अपने अमृत-सरोवरमें सुधा पानकर तृप्त हो जाओगे। प्यास बुझ जायगी—सदाके लिये बुझ जायगी। फिरो—वापस फिरो।'

एक महात्मा किसी पथभ्रान्त श्रान्त पथिकसे ऐसा उपदेश कर रहे थे। दूसरे एक साधुने इस उपदेशको सुनकर अपने

शिष्यसे कहा कि देख ! जो संसारमें सुख चाहता है, वह अनेक योनियोंमें भटकनेपर भी सुखको नहीं प्राप्त होता, इन्द्रका पद मिल जानेपर भी तृप्त नहीं होता। माया-मरीचिकाकी भाँति सुख आगे ही दीखता है। आगे जाता है तब भी उसे उसी अशान्ति और दुःखके दर्शन होते हैं। सुख तो अपने आत्मामें—अपने ही अन्दर भरा पड़ा है। जो उसे पहचानकर उस अमृतका पान करता है, वही सुखी और तृप्त होता है।

× × × ×

'अरे पागल कुत्ते ! हड्डी क्यों चबाता है ! किसी गृहस्थके द्वारपर जा। सूखी रोटी मिल जायगी, जिससे पेट भरेगा, तृप्ति होगी। पर तू क्यों मानने लगा ? तुझे तो खून चाहिये ! अरे मूर्ख ! यह तो सोच, तू जिस खूनके स्वादसे सुखी हो रहा है, वह किसका है ? कहाँसे आया ? क्या इस हड्डीमें खून है ? यह तो सूखी है, खून तो तेरे ही मसूढ़ोंका है जो हड्डीकी चोटसे बाहर निकल रहा है और तू भ्रमसे उसमें स्वाद ले रहा है ! अरे, यह खून तो तेरे ही अन्दर भरा है। मूर्ख ! अपना ही खून निकालकर तू आप क्यों पीता है ? हड्डी छोड़ दे। देख !

मसूढ़ोंमें घाव हो जायगा, बड़ी वेदना होगी। खून तो तेरे अन्दर है ही!'

साधुने यह सुनकर अपने शिष्यसे कहा कि,'वत्स! विषय-के साथ इन्द्रियका संयोग होनेपर जो कुछ सुखकी प्रतीति होती है, वह सुख वास्तवमें उस विषयमें नहीं है। विषय तो हड्डीकी भाँति दुःखरूप और आघात ही पहुँचानेवाले हैं, सुख तो अपने आत्मामें है और वह तुमसे कभी भिन्न नहीं! इच्छित वस्तुके प्राप्त होनेपर जब कुछ समयके लिये मन निश्चल होता है, तब उसमें सुखरूप आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है। वही आत्मसुख, विषय सुखके रूपमें दीखता है, जैसे कुत्तेको अपने मसूढ़ोंका खून भ्रमसे हड्डीमें प्रतीत हो रहा है। अतएव विषयोंसे सुखकी प्राप्तिको भ्रम समझकर तू उस आत्मानन्दका अनुभव कर।

× × × ×

सेठजीने कहा—हरिकी मा! तिजूरीमेंसे थोड़ा सोना तो निकाल ला। वह बोली—सोना कहाँ है, क्या लाकर दिया था? तिजूरीमें तो रत्तीभर भी सोना नहीं है।

सेठजी—अरी पगली! नहीं कैसे है? सेरों सोना भरा है, मुझे तो एक अँगूठी बनवानेके लिये थोड़ा-सा ही चाहिये।

हरिकी मा—अजब बात है ! मैं कहती हूँ सोना है ही नहीं, अँगूठी बनवानी है तो बाजारसे ले आइये। घरमें है ही नहीं तब मैं दूँ कहाँसे ?

सेठजी—अच्छा ! जरा चाभी तो दो, मैं निकालता हूँ। हरिकी माने झुँझलाकर चाभी दे दी और कौतूहलसे देखने लगी कि देखें ये बिना हुए सोना कहाँसे निकालते हैं। सेठजीने तिजूरी खोली और गहनोंके ढेरमेंसे एक टूटी हुई पुराने ढंगकी अँगूठी निकाल ली। ताला बन्द करके चाभी हरिकी माको दे दी। उसने कहा, निकाल लिया सोना ? मैं तो पहले ही कहती थी कि नहीं है। सेठजीने अँगूठी दिखाकर कहा, यह सोना नहीं तो क्या है ?

हरिकी मा—यह तो अँगूठी है।

सेठजी—अरी ! अँगूठी तो इसका नाम है। गोलाकार बनी हुई है, यह इसका रूप है। है तो सोना ही।

हरिकी मा—सोना कैसे है ? अँगूठी प्रत्यक्ष दीखती है, आप सोना कहते हैं।

सेठजी—अच्छा जब यह अँगूठी नहीं बनी थी। तब यह क्या था ?

हरिकी मा—सोना।

सेठजी—गलानेके बाद क्या होगा ?

हरिकी मा—सोना।

सेठजी—ठीक! जरा विचार करो तो क्या इस समय यह सोना नहीं है?

हरिकी मा—है तो सोना ही! परन्तु इसे कहते तो अँगूठी हैं न!

सेठजी—गोलाकार रूप हो गया इसीसे अँगूठी कहने लगे। मान लो! इसे कोई गलाकर नाकका गहना बनवा लें, तो उसे क्या कहोगी?

हरिकी मा—नथ!

सेठजी—उस समय क्या यह सोना नहीं रहेगा?

हरिकी मा—रहेगा क्यों नहीं, नाम-रूप बदल जायगा!

सेठजी—तो बस, नाम-रूपसे ही गहने अलग-अलग माने जाते हैं और अलग-अलग व्यवहारमें आते हैं। है सब सोना ही।

हरिकी मा—ठीक है, अब आपकी बात समझमें आ गयी।

साधुने पति-पत्नीकी इन बातोंको सुनकर शिष्यसे कहा, 'देख! इसी तरहसे नाम-रूपात्मक जगत् परमात्मामें कल्पित है और परमात्मा सबके एकमात्र अधिष्ठान और सबमें व्यापकरूपसे नित्य स्थित हैं। यही ब्रह्मज्ञान है।'

भगवान्‌के विभिन्न स्वरूपोंकी एकता

भगवान्‌का वास्तविक स्वरूप कैसा है, इस बातको तो भगवान् ही जानते हैं, परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् अनेक रूपों और नामोंसे प्रसिद्ध होनेपर भी यथार्थमें एक ही हैं, भगवान् या सत्य कदापि दो नहीं हो सकते। भगवान्‌के अनन्त रूप, अनन्त नाम और अनन्त

लीलाएँ हैं, वे भिन्न-भिन्न स्थलों और अवसरोंपर भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें अपनेको प्रकाश करते हैं। भक्त अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भगवान्‌के भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी उपासना करते हैं और अपने इष्टरूपमें ही उनके दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि एक भक्तका उपास्य-स्वरूप दूसरे भक्तके उपास्य-स्वरूपसे पृथक् होनेके कारण दोनों स्वरूपोंकी मूल एकतामें कोई भेद है। वही ब्रह्म हैं, वही राम हैं, वही कृष्ण हैं, वही शिव हैं, वही विष्णु हैं, वही सच्चिदानन्द हैं, वही मा जगज्जननी हैं, वही सूर्य हैं और वही गणेश हैं। जो भक्त इस तत्त्वको जानता है वह अपने इष्टरूपकी उपासनामें अनन्य संलग्न रहता हुआ भी अन्यान्य सभी भगवत्-स्वरूपोंको अपने ही इष्टदेवके रूप मानता है, इसलिये वह किसीका भी विरोध नहीं करता। वह अनन्य श्रीकृष्णोपासक होकर भी मानता है कि मेरे ही मुरलीधर श्यामसुन्दर भगवान् कहीं श्रीराम-स्वरूपमें, कहीं शिव-स्वरूपमें, कहीं मा कालीके रूपमें और कहीं निर्लेप निराकार ब्रह्मरूपमें उपासित होते हैं; मेरे ही श्यामसुन्दर अव्यक्तरूपसे समस्त विश्वब्रह्माण्डमें नित्य एकरस व्याप्त हैं, वही मेरे नन्दनन्दन त्रिकालातीत भूमा सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हैं, वही

मेरे पुरुषोत्तम आत्मरूपसे समस्त जीवशरीरोंमें स्थित रहकर उनका जीवत्व सिद्ध कर रहे हैं, वही समय-समयपर भिन्न-भिन्न रूपोंमें अवतीर्ण होकर सन्त-भक्तोंको सुखी करते और धर्मकी संस्थापना करते हैं और वही जगत्के पृथक्-पृथक् उपासक-समुदायोंके द्वारा पृथक्-पृथक् रूप-गुण-भाव-सम्पन्न होकर उनकी पूजा ग्रहण करते हैं। प्रत्येक परमाणुमें उन्हींका नित्य निवास है। इसी प्रकार अनन्य श्रीरामोपासक और अनन्य श्रीशिवोपासक भक्तोंको भी सबको अपने ही प्रभुका स्वरूप, विस्तार और ऐश्वर्य समझना चाहिये। जो मनुष्य दूसरेके उपास्य इष्टदेवको अपने प्रभुसे भिन्न मानता है, वह प्रकारान्तरसे अपने ही भगवान्को छोटा बनाकर उनका अपमान करता है। वह असीमको ससीम, अनन्तको स्वल्प, व्यापकको एकदेशी और विश्वपूज्यको क्षुद्रसम्प्रदायपूज्य बनाता है। केवल हिन्दुओंके ही नहीं, समस्त विश्वकी विभिन्न जातियोंके पूज्य परमात्मदेव यथार्थमें एक ही सत्य तत्त्व हैं। यह सारे भेद तो देश, काल, पात्र, रुचि, परिस्थिति आदिके भेदसे हैं, जो भगवत्कृपासे भगवान्की प्राप्ति होनेके बाद आप ही मिट जाते हैं—अतएव अपने इष्टस्वरूपका अनन्य उपासक रहते हुए ही वस्तुगत भेदको भुलाकर

सबमें सर्वत्र सब समय परमात्माके दर्शन करने चाहिये। यह समस्त चराचर विश्व उन्हीं भगवान्का शरीर है, उन्हींका स्वरूप है, यह मानकर कर्तव्य-बोधसे जीवमात्रकी सेवा करके भगवान्को प्रसन्न करना चाहिये। सम्प्रदायभेदके कारण एक दूसरेके उपास्यदेवकी निन्दा करना अपराध है। कुछ शताब्दियों पूर्व शैव, शाक्त और वैष्णवोंके परस्पर झगड़े हुआ करते थे, कहीं-कहीं अब भी होते हैं, परन्तु इसमें अधिकतर मोह और दुराग्रह ही प्रधान कारण है। शास्त्रोंमें ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं जिनसे शिव, विष्णु आदि समस्त स्वरूपोंकी एकता सिद्ध है। भगवान् शिव भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं और भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भगवान् शिवकी; वे परस्पर एक दूसरेके भक्त और भगवान् हैं, आप ही अपनी पूजा करते-करवाते हैं। भगवान्की यह लीलाएँ भक्तोंके लिये सुखदायिनी और तार्किक तथा दुराग्रही लोगोंके लिये भ्रममें डालनेवाली होती हैं। श्रीराम सेतुबन्धपर श्रीरामेश्वर महादेवकी स्थापना करके उनकी पूजा करते हैं और श्रीशङ्कर कई बार सेवामें आकर श्रीरामका स्तवन करते हैं। भगवान् शङ्कर श्रीकृष्णके दर्शनार्थ आते हैं और भगवान् श्रीकृष्ण भगवान् शङ्करकी प्रसन्नताके लिये तप

करते हैं। पद्मपुराणके एक प्रसङ्गमें भगवान् शङ्कर भगवान् श्रीरामकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

> एकस्त्वं पुरुषः साक्षात्प्रकृतेः पर ईर्य्यसे।
> यः स्वांशकलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च॥
> अरूपस्त्वमशेषस्य जगतः कारणं परम्।
> एक एव त्रिधा रूपं गृह्णासि कुहकान्वितः॥
> सृष्टौ विधातृरूपस्त्वं पालने स्वप्रभामयः।
> प्रलये जगतः साक्षादहं शर्वाख्यतां गतः॥
>
> (पद्म० पाताल० २८। ६ से ८)

'हे श्रीराम! जो अपनी अंशकलाद्वारा समस्त विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं, वह प्रकृतिसे परे एकमात्र साक्षात् परमपुरुष आप ही हैं। हे प्रभो! आपका कोई रूप नहीं है, आप ही इस सम्पूर्ण जगत्के परम कारण हैं, आप एक ही अपनी मायासे (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) तीन रूपोंको धारण करते हैं। आप सृष्टि करनेमें ब्रह्मारूप हैं, पालनमें स्वप्रभामय विष्णुरूप हैं और संसारके संहारके समय साक्षात् आपका स्वरूप मैं (रुद्र) महेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हूँ।' इसके उत्तरमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

ममास्ति हृदये शर्वो भवतो हृदये त्वहम् ।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढा पश्यन्ति दुर्धियः ॥
ये भेदं विदधत्यद्धा आवयोरेकरूपयोः ।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते नराः कल्पसहस्रकम् ॥
ये त्वद्भक्ताः सदासंस्ते मद्भक्ता धर्मसंयुताः ।
मद्भक्ता अपि भूयस्या भक्त्या तव नतिङ्कराः ॥

(पद्म० पाताल० २८ । २० से २२)

हे शंकर ! आप सदा मेरे हृदयमें और मैं सर्वदा आपके हृदयमें रहता हूँ, हम दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है, दुर्बुद्धि मूर्ख ही हम दोनोंम भद देखते हैं। हम दोनों अभेदरूप हैं, जो मनुष्य हम दोनोंमें भेदकी कल्पना करते हैं वे हजार कल्प-तक कुम्भीपाक नरकमें पड़े कष्ट भोगते हैं। जो धर्मपरायण मनुष्य आपके भक्त हैं वे मेरे भक्त हैं और जो मेरे भक्त हैं वे मेरे प्रति महान् भक्ति होनेके कारण आपके किंकर हैं। श्रीराम-चरितमानसमें भगवान् श्रीरामने स्पष्ट कहा है—

सिवद्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहु मोहि न पावा ।
संकरबिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढमति थोरी ॥

संकर प्रिय मम द्रोही सिव-द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरकमहँ वास॥
औरौ एक गुपुत मत सबहिं कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

इससे अधिक एकताका स्पष्ट वर्णन और क्या होगा? इतनेपर भी जो लोग भ्रमवश एक ही भगवान्‌के विभिन्न रूपोंमें भेद मानकर उनका अपमान करते हैं, भगवान् उनपर दया करें।

यह स्मरण रखना चाहिये कि एक ही भगवान् नाना रूपोंमें भास रहे हैं। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट घोषणा की है कि—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(७।७)

हे अर्जुन! मेरे सिवा किञ्चित् भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह समस्त विश्व सूत्रमें सूत्रकी मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा हुआ है।

इस प्रकारके सर्वगत, सर्वरूप, सर्वव्यापी, परमात्माको

अपनी-अपनी स्थिति और भावनाके अनुसार पूजकर ही मनुष्य उन्हें प्राप्त करता है। यह बात भी भगवान्‌ने कह दी है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) व्याप्त है, उस परमात्माको अपने-अपने कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको पाता है।

कहाँ तो भूतमात्रमें भगवान्‌को देखकर सबकी सेवा करनेका पवित्र उपदेश और कहाँ भगवान्‌की अपनी ही विविध मूर्तियोंमें उन्हींके भक्तोंद्वारा भेदकी कल्पना! यह बड़ी ही लज्जा और दुःखकी बात है।

मेरा तो यही निवेदन है कि हम सबको इन सारे भेदमूलक विरोधी द्वेषभावोंको त्यागकर अपनी-अपनी भावना और मान्यताके अनुसार भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये। उपासना करते-करते जब भगवान्‌की कृपाका अनुभव होगा, तब उनके यथार्थ स्वरूपका अनुभव आप ही हो जायगा। भगवान्‌का वह रूप कल्पनातीत

है । मनुष्यकी बुद्धि वहाँतक पहुँच ही नहीं पाती । निराकार या साकार भगवान्के जिन-जिन स्वरूपोंका वाणीसे वर्णन या मनसे मनन किया जाता है, वे सब शाखाचन्द्र-न्यायसे भगवान्का लक्ष्य करानेवाले हैं; यथार्थ नहीं । वह तो सर्वथा अनिर्वचनीय है । इन स्वरूपोंकी वास्तविक निष्काम उपासनासे एक दिन अवश्य ही भगवत्-कृपासे यथार्थ स्वरूपकी उपलब्धि कर भक्त-जीवन धन्य और कृतार्थ हो जायगा । फिर भेदकी सारी गाँठें आप ही पटापट् टूट जायँगी । परन्तु इस लक्ष्यके साधकको पहलेसे ही सावधान रहना चाहिये । कहीं विश्वव्यापी भगवान्को अल्प बनाकर हम उनकी तामसी पूजा करनेवाले न बन जायँ, कहीं असीमको सीमाबद्ध कर हम उनका तिरस्कार न कर बैठें । भगवान् महान्-से-महान् और अणु-से-अणु हैं; त्रिकालमें नित्य-स्थित और त्रिकालातीत हैं, तीनों लोकोंमें व्याप्त और तीनोंसे परे हैं; सब कुछ उनमें है, वे सबमें हैं, बस वे ही वे हैं, उनकी महिमा उन्हींको ज्ञात है, उनका ज्ञान उन्हींको है, उनका स्वरूप-भेद उन्हींमें है । हमारा कर्तव्य तो विनम्र भावसे सदा-सर्वदा उनके चरणोंमें पड़े रहकर उनके कृपा-कटाक्षकी ओर सतृष्ण दृष्टिसे ताकते रहना ही है । जब वे कृपा करके अपना स्वरूप

प्रकट करेंगे, तभी हम उन्हें जान सकेंगे। इसके सिवा उन्हें जाननेका हमारे लिये और कोई भी सहज उपाय नहीं है, परन्तु इसके लिये हमें कुछ तैयारी करनी होगी; मनका मैल दूर करना होगा, सारे जगत्में उनका दीदार देखना होगा, सभी धर्मों और सम्प्रदायोंमें उनकी छायाका प्रत्यक्ष करना पड़ेगा, जगत्में कौन ऐसा है जिसका किसी प्रकारसे भी उन्हें स्वीकार किये बिना छुटकारा हो सके। भिन्न-भिन्न दिशाओंसे आनेवाली नाना नदियाँ एक ही समुद्रकी ओर दौड़ती हैं, इसी तरह सभीको सुखस्वरूप भगवान्की ओर दौड़ना पड़ता है। नास्तिकको भी किसी-न-किसी प्रकारसे उनकी सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है ? इसलिये सबमें उन्हें देखनेकी कोशिश करनी चाहिये। नित्य नतमस्तक होकर इन सुन्दर शब्दोंमें भगवान्की स्तुति कीजिये—

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

श्रद्धाकी कमीका कारण

एक सज्जनका पत्र मिला है, पत्र गोपनीय है, इससे उसे अविकल प्रकाशित न कर उसके एक अंशका सार यहाँ छापा जाता है और पत्र-लेखकके साथ ही अन्यान्य पाठक-पाठिकाओंके लाभके लिये पत्रका उत्तर भी प्रकाशित कर दिया जाता है । आप लिखते हैं—

'मेरे एक सम्बन्धीको परोपकारका कार्य करते एक फौज़-दारी मुकद्दमेमें फँसना पड़ा । निरपराधको बचाना कर्तव्य समझ-कर मैं 'अच्छे-अच्छे वाक्सिद्ध सन्तों' के पास गया और उनसे मैंने अपने सम्बन्धीके छूटनेका वचन पाया । कई तरहके सम्पुट-युक्त पाठ, अनुष्ठान और अनेक यन्त्र-मन्त्र-हवन आदि करवाये । बनारसके 'राम-नाम-बैंक' से सवा लाख श्रीराम-नाम कर्ज़ लेकर उनको मेरे सम्बन्धीसे लिखवाया । स्वयं कई बार रो-रोकर ईश्वरसे प्रार्थना करता रहा । इतना सब करनेपर भी मेरे सम्बन्धीको एक साल सख्त कैदकी सजा हो ही गयी । अन्तमें अपील करनेपर छः महीनेकी सजा बहाल रही । जिन सन्तोंका वचन कभी

मिथ्या नहीं हुआ था, वह मिथ्या हो गया। मेरी प्रार्थना असफल हुई, मेरी श्रद्धाको बड़ा धक्का लगा और धनका नाश तो हुआ ही। अब तो यही ठीक जान पड़ता है कि भव-भय-नाशके लिये ही श्रीराम-नामका आधार लेना चाहिये और शुभ कर्म करने चाहिये जिससे दुःखमें न पड़ना पड़े। भगवान् कोई अपराध क्षमा नहीं करता, उसके नाममें पापका पहाड़ भस्म करनेकी शक्ति बतलायी जाती है, उसके साथ इतना और जोड़ देना चाहिये कि 'भावीको भगवान्का नाम भी नहीं मिटा सकता।' अब मुझे ईश्वरका भय तो पैदा हो गया है, मगर आशा नहीं रही और जब आशा नहीं रही, तब प्रीति कहाँ? इसलिये आप ऐसी बात बताइये जिससे ईश्वर, सन्त और सद्ग्रन्थोंमें मेरी श्रद्धा बढ़ जाय।' यही पत्रके एक भागका सारांश है, दूसरे भागमें साधन सम्बन्धी बातें हैं, उनको यहाँ लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

ये भाई श्रद्धालु होनेके साथ ही बहुत सरल-हृदयके जान पड़ते हैं। इस घटनासे पूर्व इनकी विशेष श्रद्धा जिस सरलताको लिये हुए थी, अब श्रद्धाके कम होनेमें भी इनकी वही सरलता कारण है। ज़रा गहरे जाकर विवेकपूर्वक सोचनेसे 'ईश्वर, सन्त और सद्ग्रन्थों' में श्रद्धा कम होनेका तनिक-सा भी कारण नहीं

दीखता । मिथ्या आडम्बरों और बनावटी चमत्कारोंमें श्रद्धा रखनेसे मनुष्यको असफलताके कारण समय-समयपर यथार्थ सच्चे सिद्धान्तोंमें भी भ्रमवश अश्रद्धा हो जाया करती है । कुछ-कुछ इस प्रसङ्गमें भी ऐसा ही हुआ जान पड़ता है । मिथ्या आडम्बरोंमें अश्रद्धा होना तो उत्तम और आवश्यक ही है । अपनी 'वाक्-सिद्धि' का ढिंढोरा पीटनेवाले 'सन्त' नामधारी व्यक्तियोंमें, 'जन्तर, मन्तर, टोना, जादू' बतलाने और करनेवालोंमें एवं अपनी सिद्धियों तथा चमत्कारोंके बलसे सारे सङ्कटोंसे छुड़ानेका ठेका लेनेवालोंमें अधिकांश लोग पाखण्डी होते हैं और भोले-भाले विपत्तिग्रस्त मनुष्योंको चिकनी-चुपड़ी बातोंसे मिथ्या विश्वास दिलाकर अपना उल्लू सिद्ध किया करते हैं । कहीं काकतालीय-न्यायसे किसी कारण-वश कार्य सिद्ध हो गया तब तो पूछना ही क्या है, फिर तो 'वाक्सिद्धि' की अवस्थासे ऊँचे उठकर ये तत्काल ईश्वरके अवतार ही बन बैठते हैं एवं लोगोंको ठग-ठगकर मनमानी मौज करते हैं । काम सिद्ध नहीं हुआ तो भी इनका कुछ नहीं बिगड़ता । धनका और धर्ममें श्रद्धाका नाश होता है तो पूछनेवालेका होता है, बाबाजी तो सिद्धके सिद्ध ही रहे; एक नहीं तो दूसरा गाँहक सही । ऐसे ही पाखण्डियोंकी कपटभरी

करतूतोंसे सीधे-सादे भले स्त्री-पुरुष ईश्वर और धर्ममें अविश्वासी हो जाते हैं। हिन्दू-धर्मके सारे शरीरमें धर्मके नामपर पाखण्डका प्रचार करनेवाला यह एक घुन लग गया है, जो उसे खाये डालता है। भारतमें शायद ही ऐसा कोई स्थान होगा, जहाँ इन पाखण्डियोंकी सृष्टि न हो गयी हो। ऐसे लोगोंसे सदा बचनेकी कोशिश करनी चाहिये। जो धन लेकर उसके बदलेमें अपनी सिद्धि, चमत्कार और 'जन्तर-मन्तर' से दुःख छुड़ानेकी डींग हाँकता हो, उससे सदा सावधान ही रहना उचित है।

यह बात सदा स्मरण रखनेकी है कि सत्यको प्राप्त, सत्यपर आरूढ़, सत्यभाषी और सत्यके हिमायती ईश्वरके परम प्यारे सिद्ध भक्त स्वाभाविक ही प्राणिमात्रका भला चाहते हैं, परन्तु सिद्ध कहलानेके लिये वे किसीको आशीर्वाद नहीं देते और कहीं उनके मुखसे कभी ऐसा कुछ निकल जाता है तो सत्यके प्रतापसे वह कभी व्यर्थ नहीं होता। हाँ, कुछ ऐसे दयालु, परदुःख-दुखी सरल प्रकृतिके उपासक या साधक सन्त भी होते हैं जो किसीको दुःखमें देखकर उसे धीरज बँधानेके लिये आशीर्वाद दे दिया करते हैं या निश्चयात्मक शब्दोंमें कह दिया करते हैं कि 'तुम्हारा काम सिद्ध हो जायगा, चिन्ता न करो।' ऐसे साधकोंकी वाणी

सफल होती है तो उनके तपका नाश होता है, तपके अभावमें सफल होनेमें भी सन्देह रहता है । ऐसी स्थितिमें इस प्रकारके साधकोंके लिये आशीर्वाद या वरदान देनेमें सावधानी रखनी चाहिये, क्योंकि वाणी सफल होनेसे तपका नाश होगा और तपके नाशसे सफलता नहीं होगी, जिससे लोगोंमें ईश्वर और धर्मके प्रति अविश्वास उत्पन्न होगा । सफल होनेसे पूजा-प्रतिष्ठा बढ़ जायगी और प्रतिष्ठाका लोभ हो जानेपर पतन निश्चित है, इधर तंग करनेवालोंके बढ़ जानेसे बराबर आशीर्वाद देते-देते जीवन अशान्तिमय हो जायगा और सारे साधन छूट जायँगे । मुझे मालूम नहीं कि पत्र-लेखक भाई इनमेंसे किस ढंगके 'वाक्सिद्ध' सन्तोंके पास गये थे, परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ता है कि वे जिनके पास गये थे, वे लोग वाक्सिद्ध नहीं थे, होते तो उनके वचन झूठे ही क्यों पड़ते ?

मैं इस बातको मानता हूँ कि शास्त्रोक्त अनुष्ठानादि प्रायश्चित्तोंसे पापका नाश अवश्य होता है । यह सच है कि कर्मफलका नाश भोगे बिना नहीं होता, परन्तु प्रायश्चित्त भी एक प्रकारका भोग ही है । अवश्य ही, प्रायश्चित्त-कर्म होना चाहिये श्रद्धाके साथ और मन्त्र तथा विधिसे सर्वथा पूर्ण । जिस कर्ममें श्रद्धा

नहीं होती, उसका तो कोई फल ही नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

> अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
> असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥
>
> (गीता १७।२८)

'हे अर्जुन! श्रद्धा बिना किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और कोई-सा भी किया हुआ कर्म असत् कहलाता है, उससे इसलोक या परलोकमें कोई भी लाभ नहीं होता।'

विधिहीनता या विधिके विपरीत करनेपर तो कर्म-वैगुण्य हो जानेसे कर्मका सफल होना सम्भव ही नहीं, प्रत्युत विपरीत फलतक हो जाता है। एक मनुष्यकी स्त्री बीमार थी। उसने स्त्रीकी रक्षाके लिये देवीजीका अनुष्ठान कराया। पाठ करनेवाले पण्डितजी कुछ भाँग खाया करते थे। नशेमें वे *'भार्यां रक्षतु भैरवी'* 'हे भैरवी! भार्याकी रक्षा करो' की जगह *'भार्यां भक्षतु भैरवी'* 'हे भैरवी! भार्याको खा डालो' पढ़ने लगे। फल यह हुआ कि पाठ करानेवालेकी पत्नी मर गयी। आर्षग्रन्थोंमें भी उच्चारण-दोष और विधि-हीनतासे विपरीत फल होनेके अनेक

प्रमाण मिलते हैं । इसके सिवा यह भी नहीं कहा जा सकता कि हमारे वर्तमान अनुष्ठानका फल पापके नाश करनेमें कितना समर्थ है ? क्योंकि यह कोई निश्चित बात नहीं है कि मनुष्यको इस समय जो कष्ट प्राप्त हो रहा है वह उसके कौन-से पूर्वकृत कर्मका फल है । पाप-पुण्यके सञ्चितसे प्रारब्ध बनता है और उसीके अनुसार दुःख-सुखका भोग करना पड़ता है, परन्तु त्रिकालज्ञ योगीके अतिरिक्त शायद कोई भी ऐसा पुरुष नहीं, जो इस बातका निर्भ्रान्त निर्णय कर सके कि कौन-सा फल-भोग किस कर्मका फल है ? हम वर्तमानमें किसी फल-भोगके नाश करनेके लिये जो प्रायश्चित्तरूप कर्म करते हैं, सम्भव है कि वह हमें इस समय फल देनेवाले प्रारब्धके नाश करने लायक न हो, इससे प्रारब्धका फल तो हमें अभी भोगना ही पड़े और यह प्रायश्चित्त कर्म, नवीन कर्मके रूपमें सञ्चितमें जमा हो जाय, जिसका फल हमें भविष्यमें कभी प्राप्त हो । मान लीजिये कि एक मनुष्य पुत्र या धनकी प्राप्तिके लिये, अथवा किसी आनेवाली या आयी हुई विपत्तिके विनाशके लिये किसी यज्ञका विधिवत् अनुष्ठान करता है और तदनन्तर ही उसको पुत्र या धनकी प्राप्ति हो जाती है अथवा विपत्ति दूर हो जाती है । इस पुत्र-धनकी प्राप्ति

या विपत्ति-नाशरूपी फलमें उसका इस समय किया हुआ अनुष्ठान कारण है या पूर्व जन्ममें किया हुआ कोई अन्य कर्म कारण है, इस बातका निर्णय करना बहुत ही कठिन है। सम्भव है, पुत्र-धनकी प्राप्ति या विपत्तिका नाश किसी पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मके फलरूपमें हो गया हो और वर्तमान कर्मका फल आगे मिले। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि मनुष्यके इस समयका अनुष्ठान गलती रह जानेसे पूरा ही न हुआ हो, जिसके कारण उसका कुछ भी फल न मिले अथवा विधिकी विपरीततासे यह कर्म किसी बुरे फलका कारण बन गया हो जिससे मनुष्यकी विपत्ति और भी बढ़ जाय या भविष्यमें उसे दुःख भोग करना पड़े। इसके सिवा यह भी सम्भव है कि इस अनुष्ठानका फल तो जरूर हुआ हो-परन्तु वर्तमानमें फल देनेवाला प्रारब्ध विकट होनेके कारण इस अनुष्ठानसे उसका पूरा प्रायश्चित्त न हो पाया हो, जिससे जितने अंशमें फलभोग शेष रहा हो, उतना भोग करना ही पड़े, जैसे फाँसीके बदलेमें काँटा गड़कर रह जाय अथवा दस सालकी कैदके बदलेमें दस ही महीनेकी हो जाय। इसलिये शास्त्रोक्त अनुष्ठानोंमें अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिये। अच्छे पुरुषोंद्वारा विधिसंगत सांगोपांग अनुष्ठान होगा,

तो उसका फल अवश्य ही शुभ होगा। अनुष्ठान करनेवाले लोग अवश्य ही विधिके ज्ञाता, संयमी, निःस्वार्थी और यजमानके पूरे हितैषी होने चाहिये।

अब रही श्रीराम-नामके द्वारा होनेवाले फलकी बात। सो मेरे विश्वासके अनुसार तो प्रेमपूर्वक श्रीराम-नामका जप-कीर्तन करनेसे स्वयं श्रीभगवान् वशमें हो जाते हैं, तब सांसारिक फल-सिद्धिकी तो बात ही कौन-सी है? परन्तु श्रीराम-नामका प्रयोग सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये करना उसका अपमान करना है। उगते हुए सूर्यकी लालिमाके द्वारा अमावस्याके घोर अन्धकारके नाश होनेके समान ही जिस श्रीराम-नामके आभासमात्रसे ही दुःखोंके समूह समूल नष्ट हो जाते हैं, उस श्रीराम-नामको संसारके कार्योंमें लगाना वनराज सिंहको मामूली कुत्तेपर छोड़नेके समान ही निन्दनीय है। भगवत्प्रेम और भगवन्नाम भगवत्प्राप्तिके लिये हैं, न कि तुच्छ सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रद्धापूर्वक भगवत्-नाम-जप करनेसे सांसारिक कार्योंमें अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। इस बातका मुझे अपने जीवनमें उस समय कई बार प्रत्यक्ष अद्भुत अनुभव हो चुका है जिस समय कि मैं श्रीराम-नामके महत्त्वको न समझकर

उसका सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये प्रयोग करता था, परन्तु यह भी श्रीराम-नामका श्रद्धापूर्वक जप करनेसे ही होता है। मेरी समझसे तो यदि उक्त सज्जन कहींसे भी कर्ज न लेकर श्रीराम-नाममें भरोसा करके स्वयं प्रेमपूर्वक जप करते तो कदाचित् भगवत्कृपाके किसी अकथनीय कारणसे उनका यह संकट न भी टलता तो उन्हें सच्ची शान्ति तो अवश्य ही मिल जाती और श्रीराम-नाममें उनकी श्रद्धा निश्चय बढ़ती।

रही प्रार्थनाकी बात, सो प्रार्थनासे तो सब कुछ होता है। प्रार्थनासे कष्ट-सहनकी शक्ति तो बढ़ती ही है, साथ ही यदि आर्तभावकी सच्ची प्रार्थना हो तो उससे दुःख भी टल जाते हैं। टल क्या जाते हैं, उनका समूल नाश हो जाता है। दुःखके नामसे पुकारी जानेवाली सांसारिक घटनाओंका स्वरूपसे भी नाश हो सकता है, परन्तु भगवत्कृपासे अज्ञान मिट जानेपर किसी भी सुख-दुःख-संज्ञक घटनाकी स्वरूपसे प्राप्ति या विनाशके लिये आकांक्षा ही नहीं रह जाती। ऐसा पुरुष लोक-दृष्टिमें ही सुख-दुःखको प्राप्त होता है, वास्तवमें तो वह सुख-दुःखसे सर्वथा मुक्त है, घटना जो कुछ भी हो। भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६।२२)

'परमात्माकी प्राप्तिरूपी परमलाभको पाकर वह उससे अधिक कोई भी दूसरा लाभ नहीं मानता और इस प्रकारकी अनिर्वचनीय अवस्थामें स्थित पुरुष बड़े-से-बड़े दुःखसे भी विचलित नहीं होता।' जैसे सूर्योदयके पश्चात् बिजलीकी रोशनी अनावश्यक, शोभाहीन और फीकी पड़ जाती है, फिर दस-बीस बत्तियोंके अधिक जल जाने या सबके एक साथ ही बुझ जानेपर जैसे किसीको कोई सुख-दुःख नहीं होता, इसी प्रकारकी स्थिति परमात्माको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे की गयी प्रभु-विरहकी सच्ची आर्त-प्रार्थनाके फलरूपमें हो जाती है। इस दशाको प्राप्त पुरुष ही परमात्माका प्यारा भक्त है। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(गीता १२।१७)

'जो न कभी (सांसारिक प्रिय वस्तुको प्राप्तकर) हर्षित होता है, न (उसके नाश होनेसे) द्वेष करता है, न (नाश

होनेपर) शोक करता है, न (उसको पुनः पानेके लिये) इच्छा करता है और जो सभी शुभाशुभ कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।' अँधेरेमें ही रोशनीके मिलनेपर हर्ष, उसके बुझनेमें द्वेष, बुझ जानेपर चिन्ता और उसे फिरसे जलानेकी इच्छा होती है, यह शुभाशुभ अन्धकारकी अवस्थामें ही है। सूर्यके प्रखर प्रकाशमें इनमेंसे कोई-सी बात नहीं रह जाती। इसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकारमें ही सांसारिक विषयोंकी प्राप्तिको शुभ और अशुभ समझा जाता है और उन्हीं-का नाम सुख-दुःख है। ज्ञानके प्रकाशमें तो इन सारे मायिक प्रपञ्चोंकी सत्ता एक अखण्ड परमात्म-सत्ताके रूपमें बदल जाती है,फिर उनके होने, न होनेमें कोई सुख-दुःख रह ही कैसे सकता है? सुख-दुःख वास्तवमें मनकी कल्पनामात्र हैं, वे किसी वस्तु या घटनामें नहीं हैं। तपस्वी साधु कष्ट सहकर तप करनेमें और परोपकारी पुरुष परार्थ प्राण-त्याग करनेमें सुख मानते हैं। आज भी हम देखते हैं कि अनेक लोग अपने ध्येयके लिये जेल जानेमें सुख समझते हैं, मानसिक सन्तोष और सुखके कारण किसी-किसीका फाँसीकी सजा सुननेके बाद भी वजन बढ़ जाता

है। जब सांसारिक भावनाओंसे इस प्रकारकी कठिन दुःख-संज्ञक स्थितिमें सुखका बोध हो सकता है, तब परमात्माकी सच्ची प्रार्थनासे उपलब्ध परमात्माके अभेद प्रेमकी स्थितिमें सभी विषयोंका परम सुखरूप बन जाना कौन आश्चर्यकी बात है?

यह कभी नहीं मानना चाहिये कि 'भगवान् कोई अपराध क्षमा नहीं करता।' भगवान्का सृष्टि-सञ्चालन-सूत्र ही उनकी दया और क्षमासे भरा है। भगवान् कितने दयालु और क्षमाशील हैं, हमारा हृदय तो इस बातकी कल्पना ही नहीं कर सकता। जगत् अबतक दया और क्षमाकी जिस सीमातक पहुँचा है वह तो परमात्माकी दया और क्षमाके एक साधारण अणुके समान भी नहीं है। भगवान्का प्रत्येक विधान दया और क्षमासे पूर्ण है। अवश्य ही कहीं-कहीं हम अल्पज्ञ जीव भगवान्की दया और क्षमाका असली स्वरूप न समझकर मनचाहा आत्मविनाशी कार्य सफल न होनेके कारण उसकी अनन्त दयालुता और क्षमाशीलतापर सन्देह करने लगते हैं। क्या कहा जाय? जिस भाग्यवान्को भगवान्की अनन्त दया और क्षमाकी तनिक-सी भी झाँकी देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह तो सदाके लिये उनके हाथों बिक गया है। गद्गद् कण्ठसे, अस्फुट स्वरोंसे, अश्रुविगलित

नेत्रोंसे उनके गुण गाता हुआ वह जिस परमानन्दका आस्वादन करता है, उसे वही जानता है।

इसी प्रकार 'भगवान्‌का नाम भावीको नहीं मिटा सकता' यह बात भी ठीक नहीं। जब भगवन्नामके आश्रयसे सारी भावियोंके आधार संसारका अस्तित्व ही परमात्माके रूपमें पलट सकता है तब तुच्छ भावी मिटनेकी कौन-सी बात है? अवश्य ही यह विषय अनुभवसाध्य है। तर्क और प्रमाणोंसे न तो इसकी सिद्धि की जा सकती है और न करना उचित ही है।

आप भव-भय-नाशके लिये श्रीराम-नामका आश्रय लिया चाहते हैं और दुःखोंकी निवृत्तिके लिये शुभ कर्म करना चाहते हैं, सो बहुत ही अच्छी बात है। भव-भय-नाशके लिये श्रीराम-नामका आश्रय लेना सर्वथा उचित ही है, परन्तु शुभ कर्मोंका अनुष्ठान भी भगवदर्थ ही करना चाहिये। फिर दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तो आप ही हो जायगी। आपके मनमें 'ईश्वरका भय पैदा हो गया है', यह भी अच्छी बात है, ईश्वरके भयसे मनुष्य पापोंसे बचता है। परन्तु मेरा तो निवेदन है कि आप उस सर्व-भय-हारी भगवान्‌के शरण होकर श्रद्धा और प्रेमसे अपनेको सर्वस्वसहित उसके चरणोंपर न्यौछावर कर दीजिये।

यही मनुष्य-जीवनका सर्वोच्च साधन है। यही ईश्वर, सन्त और सद्ग्रन्थोंकी आज्ञा है।

अपने सम्बन्धी महोदयको समझाइये कि ईश्वर परमदयालु, न्यायकारी और क्षमाशील है, उसके नामका आश्रय लेनेसे सब दुःखोंका नाश हो सकता है। आपको न तो किसी शुभ कार्यके करनेसे ही जेल जाना पड़ा है और न जेलकी निवृत्तिके लिये किये गये यथार्थ शुभ कार्य ही व्यर्थ गये हैं। जेल होनेमें आपको यदि कष्ट हुआ है तो वह आपके किसी पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मका फल है। यदि आपका वर्तमान कर्म शुभ था तो वह तो केवल जेल-कष्टका प्रारब्ध भुगतानेमें निमित्तभर बन गया है, उसका शुभ फल आपको आगे मिलेगा। इसी प्रकार इस कष्ट-निवारणार्थ आपने जो अनुष्ठानादि कर्म किये हैं यदि वे पाखण्ड-दम्भ-युक्त नहीं हैं, और पाखण्डियोंद्वारा नहीं हुए हैं तो उनका फल अवश्य शुभ हुआ है या अवश्य होगा इसमें तनिक भी सन्देह न करें। परम दयालु, परम न्यायकारी परमेश्वरके राज्यमें उत्तम कर्मका उत्तम फल न होना या उसका निष्फल होकर नष्ट हो जाना अथवा उससे बुरा फल होना कदापि सम्भव नहीं !

क्या ईश्वरके घर न्याय नहीं है ?

एक भाई पूछते हैं कि 'जो लोग प्रत्यक्षमें पाप करते हैं, गरीबोंको सताते हैं, छल-कपटसे दूसरोंका धन-हरण करते हैं, व्यभिचार करते हैं वे तो धन, पुत्र, मान आदिसे बड़े सुखी देखे जाते हैं और जो बेचारे धर्मके मार्गपर रहते हुए भगवान्का भजन करते हैं वे बड़े दुखी रहते हैं। ऐसा क्यों होता है, क्या ईश्वरके घरमें न्याय नहीं है ?'

इन भाई साहेबको सबसे पहले यह बात सदाके लिये मनमें दृढ़तासे धारण कर लेनी चाहिये कि 'ईश्वरके घरमें कभी

अन्याय नहीं होता। वहाँ तो सदा ही न्याय है, केवल न्याय ही नहीं, दया भी पूर्ण है। ईश्वर न्यायकारी होनेके साथ ही परम दयालु भी है, उसकी प्रत्येक क्रियामें दया भरी है, हमें प्रमादवश वह दया दिखलायी नहीं पड़ती।' इस विषयपर आगे चलकर कुछ लिखा जायगा।

यह बात भी सर्वथा निश्चित नहीं है कि प्रत्यक्ष पाप करनेवाले, गरीबोंको सतानेवाले, छल-कपटसे दूसरोंका धन हरण करनेवाले और व्यभिचार करनेवाले सभी लोग धन, पुत्र, मान आदिसे सुखी हैं और धर्मके मार्गपर चलने तथा भजन करनेवाले सभी बड़े दुखी हैं। हमने इसके विरुद्ध कई उदाहरण प्रत्यक्ष देखे हैं। हाँ, यह अवश्य है कि जिन लोगोंके पास भोग-सामग्रीका अभाव होता है, जिनपर सांसारिक संकट अधिक आते हैं, वे प्रायः भगवान्‌का भजन अधिक करते हैं, क्योंकि दुःखमें ही परमात्माकी स्मृति हुआ करती है। जब मनुष्य सब तरफसे निराश और निराश्रय हो जाता है, तभी वह एकान्तचित्तसे भगवान्‌को पुकारता है, इसीसे कुन्तीने भगवान्‌से दुःखका वरदान माँगा था। इसके विपरीत धन, पुत्र, मान, बड़ाईसे छके हुए लोग ईश्वर-स्मरण बहुत ही कम करते हैं। इससे यह नहीं

समझना चाहिये कि वे सुखी हैं। मतलब यह है कि जैसे शराबखोर जबतक नशेमें पागल रहता है तबतक वह अपनी असली स्थितिको भूला रहता है। वैसे ही ये लोग भी कुछ कालके लिये विषयमदसे उन्मत्त होकर भूले रहते हैं, इसीसे भर्तृहरिने पुकारकर कहा था कि 'मोहमयी प्रमादमदिराको पीकर जगत् उन्मत्त हो रहा है।'

थोड़ी देरके लिये यह मान भी लिया जाय कि पाप करनेवालोंके धन, सन्तान आदिकी वृद्धि होकर वे सुखी होते हैं एवं सत्कार्य करनेवाले दुखी रहते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि उन दोनोंके इसी जन्मके कर्मोंका ही यह फल उन्हें मिल रहा है। अनन्त जन्मोंके सञ्चित कर्मोंमेंसे जिन कर्मोंके द्वारा यह शरीर प्राप्त हुआ है, वे कर्म प्रारब्धरूपसे इस समय उन्हें फल भुगता रहे हैं। जिस प्रारब्ध-कर्मका फल इस समय मनुष्य भुगत रहा है, दूसरा वर्तमान कर्म उससे बहुत प्रबल हुए बिना फलदानोन्मुख प्रारब्धको रोक नहीं सकता। अच्छे-बुरे जो कुछ भी कर्म मनुष्य अभी कर रहा है वे सब उसके सञ्चित बन रहे हैं। हाँ, यदि कोई ऐसा प्रबल कर्म बन जाय तो हाथों हाथ प्रारब्ध बनकर फलदानोन्मुख प्रारब्धको रोककर पहले अपना फल भुगता

दे, तो दूसरी बात है—जैसे किसीके प्रारब्धमें पुत्र नहीं है, उसने विधिवत् साङ्गोपाङ्ग पुत्रेष्टि-यज्ञ किया, उस यज्ञरूप कर्मका प्रारब्ध अभी बन गया और उसके पुत्र हो गया। इसी प्रकार अच्छे-बुरे कर्म जो अति बलवान् होते हैं वे तुरन्त प्रारब्ध बनकर अपना फल पहले भुगता देते हैं। परन्तु ऐसे प्रसङ्ग बहुत कम होते हैं, और जो होते हैं उनका भी हमें पूरा पता नहीं लगता, क्योंकि हमारे प्रारब्ध और वर्तमान सभी कर्मोंके बलाबलका पूरा निर्णय हमारी स्थूल बुद्धि नहीं कर सकती।

एक शहरके किसी स्कूलमें एक मुहल्लेके दो लड़के एक क्लासमें साथ पढ़ते थे, दोनोंमें मित्रता थी। स्कूलकी मित्रता प्रायः निष्कपट हुआ करती है। स्कूलसे निकलकर भिन्न-भिन्न मार्गोंका अवलम्बन करने तथा स्थितिमें छोटे-बड़े होनेपर मित्रता रहना, न रहना दूसरी बात है। अच्छे लोग तो श्रीकृष्ण-सुदामाकी तरह हैसियतमें बड़ा भारी अन्तर पड़ जानेपर भी लड़कपनकी मित्रता निबाहा करते हैं परन्तु ऐसे लोग विरले ही होते हैं। अधिकांश तो राजा द्रुपदकी भाँति धन या उच्चपद मिलनेपर लड़कपनके प्यारे मित्रका उसकी गरीब हैसियत होनेके कारण प्रायः तिरस्कार ही किया करते हैं। धन या पदके मदसे अन्धे हुए उन लोगोंको

एक गरीब कङ्गालको मित्र मानने या कहने-कहलानेमें बड़ी लज्जा मालूम होती है। आजकल तो कुछ पढ़े-लिखे सभ्य बाबू और धनवान् पुत्रोंके लिये अपने सीधे-सादे गरीब ग्रामीण पिताको भी अपने पाँच मित्रोंमें पितारूपसे परिचय देना सङ्कोचका विषय हो गया है! अस्तु।

दोनों मित्र पढ़कर स्कूलसे निकले, एक सदाचारी धर्मपरायण भक्त ब्राह्मणका लड़का था, दूसरा एक घूसखोर और दुराचारी धनी राजपूतका! घरकी संगतका असर बालकोंपर सबसे ज्यादा हुआ करता है। ब्राह्मणका बालक स्कूलसे निकलकर पिताकी भाँति पाठ-पूजा तथा भक्तिभावमें लग गया और राजपूतका लड़का दुराचारमें प्रवृत्त हो गया! अच्छे-बुरे गुण सभीमें होते हैं किसीमें ज़्यादा किसीमें कम। राजपूत-बालक धनी और दुराचारी होनेपर भी गरीब ब्राह्मण-बालकसे मित्रताका सम्बन्ध कभी नहीं भूला। दोनों मित्र समय-समयपर मिलते, एकान्तमें एक दूसरेके सुख-दुःखकी बातें कहते-सुनते। जो जिस काममें रहता है उसमें उसे स्वाभाविक ही सुखकी प्रतीति होने लगती है। इसीसे वे दोनों अपने-अपने मार्गमें आनन्दकी अधिकता बतलाकर परस्पर अपनी-अपनी तरफ खींचनेकी चेष्टा करते, परन्तु दोनोंका एकमत

कभी नहीं होता। प्रेममें कमी न होनेपर भी मत-भेदके कारण दोनोंका मिलना-जुलना स्वाभाविक ही कम हुआ करता। ब्राह्मण-कुमार भक्त-मण्डलीमें रहना अधिक पसन्द करता तो राजपूतको शौकीन-मण्डलीमें ज्यादा आनन्द मिलता!

ब्राह्मण बेचारा भीख माँगकर बड़े कष्टसे घरका काम चलाता, उधर राजपूतके यहाँ रोज गुलछर्रे उड़ते। कई बार वह राजपूत अपने मित्र ब्राह्मणसे कहता भी कि 'तू हमारी मण्डलीमें क्यों नहीं आ जाता?', कई बार वह धन भी देना चाहता, पर सन्तोषी ब्राह्मण अन्यायोपार्जित धनको अन्तःकरण अपवित्र हो जानेके भयसे कभी लेता नहीं। तब वह कहता, 'भाई! तेरे भाग्यमें ही दुःख लिखा है तब मैं क्या करूँ?' ब्राह्मणको अपनी निर्धनतापर असन्तोष नहीं था, वह अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट था, परन्तु इधर उस राजपूतको पिताकी ओरसे काफी धन मिलनेपर भी रात-दिन हाय-हाय ही लगी रहती थी, क्योंकि हर तरहसे बाबूगिरीमें उड़ानेके लिये तथा खुशामदी गुण्डोंकी जेब भरनेके लिये, उसको धनकी सदा जरूरत बनी ही रहती थी!

निर्जला एकादशीका दिन था। ब्राह्मणने एकादशीका निर्जल उपवास किया, रातको जागरणके लिये वह मन्दिरमें गया।

रातभर जागकर उसने हरि-नाम-कीर्तन किया। प्रातःकाल मन्दिरसे निकलकर वह नंगे पाँव घर लौट रहा था, रास्तेमें एक काँचका टुकड़ा पड़ा था, अचानक पैरमें गड़ गया, खूनकी धारा वह निकली। गर्मीका मौसम, छत्तीस घण्टेका भूखा-प्यासा, रातभरकी नींद, तिसपर यह वेदना! ब्राह्मण घबरा-सा गया!

नगरमें एक नयी वेश्या हालमें ही आयी थी, रातको उसका गाना था, शौकीन बाबुओंका जमघट वहींपर था, बिजलीके पंखे चल रहे थे, शराब-कबाबकी कोई कमी नहीं थी। जागे जितनी देर सुरीले सुरोंका आनन्द लूटा और जब मनमें आया तब सो गये तो नींदका सुख; बाबुओंने बड़े सुखसे रात बितायी। कहना नहीं होगा कि ब्राह्मणका मित्र भी वहाँ जरूर पहुँचा था। प्रातःकाल वेश्याके यहाँसे निकलकर सब अपने-अपने घर जाने लगे। सभी नशेमें चूर झूम रहे थे। एककी पाकेटसे 'मनीबैग' गिर गया, उसमें पाँच हजारके नोट थे। उसको नशेमें क्या पता था कि मेरा मनीबैग कहीं गिर गया है। राजपूत-कुमार पीछेसे आ रहा था, उसने भाग्यवश कुछ शराब कम चढ़ायी थी, इससे वह कुछ होशमें था। चलते-चलते मनीबैगपर उसकी नज़र पड़ी, उठाकर देखा तो पूरे पाँच हजारके पाँच नोट; वह आनन्दके

मारे उछल पड़ा ! सोचा, पिताजीने इधर कुछ हाथ सिकोड़ लिया था, चलो, कई दिनोंके लिये मौज-शौकका सामान सहज ही मिल गया ! बैग जेबमें रखकर वह चलता बना ।

जिस रास्तेसे वह जा रहा था, उसी रास्तेमें उस ब्राह्मणके पैरमें काँच लगा था, वह बेचारा खून पोंछकर जलकी पट्टी बाँध रहा था । मित्रको देखकर उसे कुछ हिम्मत हुई, पूछनेपर उसने सारी कथा सुना दी । राजपूतने कहा—'भाई ! तुम तो किसीकी बात मानते नहीं । दिन-रात पाठ-पूजा और राम-नामके व्यर्थके बखेड़ेमें लगे रहकर जीवन बरबाद कर रहे हो ! भला क्या होता है राम-राम बड़बड़ाने और मन्दिरोंमें जानेसे ? खानेको पूरा अन्न मिलता नहीं, कमाई करना तुम जानते नहीं, बात-बातमें तुम्हें पापका डर लगता है, बाल-बच्चे दुखी हो रहे हैं, तुम्हारी तो हड्डियाँ ही चमक रही हैं, तिसपर कहते हो धर्म और राम-नाम संसार-सागरसे तार देगा । मरनेपर वैकुण्ठ मिलेगा ! कोई देखकर आया है कि मरनेपर आगे क्या होता है ? भाई ! आगे पीछे कुछ नहीं होता, व्यर्थमें शरीरको कष्ट मत दो, खाओ-पीओ मौज करो, जबतक जीओ सुखसे जीओ, इन्द्रियोंसे आराम भोगो । मर जानेपर तो सिवा खाकके और कुछ होता नहीं ।

मुझे देखो, कितनी मौजमें हूँ ! रात-दिन चैनकी वंशी वजती है। रातको गया था परी गुलशनका गाना सुनने, वड़े आनन्दसे रात कटी, सुवह वहाँसे निकला तो पूरे पाँच हजारके नोट मिले।' यह कहकर उसने मनीवैगमेंसे नोट निकालकर दिखलाये और फिर बोला—'छोड़ो इन वखेड़ोंको, मेरे साथ चलो और आराम-से रहो।'

ब्राह्मण घवराया हुआ था, विपत्तिके समय सहानुभूति-भरे हृदयसे जो वातें कही जाती हैं उनका असर विपद्ग्रस्त मनुष्यपर अवश्य होता है, अतएव ब्राह्मणके हृदयपर भी मित्रकी वातोंका कुछ असर हुआ, थोड़े समयके लिये उसे अपने धर्म-मार्गपर सन्देह हो गया, वह सोचने लगा—'ठीक ही तो है, मैं जिन कामोंको महापातक समझता हूँ उन्हींमें यह दिन-रात रत रहता है, तव भी इसे कितना सुख है, और मैं दिन-रात भजन-पूजनमें रहता हूँ, भला, कल तो मेरे चौवीसों घण्टे केवल भजनमें ही वीते थे, जिस-पर मुझे तो यह संकट मिला और इसे पाँच हजार रुपये मिल गये!' इन विचारोंके पैदा होते ही अभ्यस्त शुभ संस्कारोंने ज़ोर दिया, मन-ही-मन ब्राह्मण पहले विचारोंका खण्डन करने लगा। उसने सोचा 'यह तो सर्वथा पाप है, क्या हुआ जो इसे रुपये

मिल गये, पराया धन लेना क्या अच्छी बात है ? जिस बेचारेके रुपये खोये हैं उसको इस समय कितना क्लेश हो रहा होगा ? मुझे ऐसा सुख नहीं चाहिये ।' इस तरह मनमें अनेक सङ्कल्प-विकल्प हुए । अन्तमें ब्राह्मणको उस महात्माकी बात याद आयी जो उस समय नगरमें आये हुए थे, बड़े सिद्ध योगी थे; भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालकी बातें जानते थे । राजा-प्रजा सबपर उनका प्रभाव फैला हुआ था । वे कई लोगोंको कई प्रकारके चमत्कार दिखला चुके थे । ब्राह्मणने सोचा, इसका निर्णय भी उन्हींसे कराना चाहिये । उसने अपने मित्रसे यह प्रस्ताव किया । राजपूतने कहा—'भाई ! निर्णय तो कुछ कराना है नहीं, प्रत्यक्ष ही प्रमाण है परन्तु तुम कहते हो तो चलो उन्हींके पास ।' राजाकी श्रद्धा होनेकी वजहसे राजकर्मचारीके इस पुत्रके मनमें भी उस महात्मापर कुछ श्रद्धा थी । दोनों वहाँ पहुँचे, हाथ जोड़ प्रणाम किया और अपनी सारी कहानी उन्हें सुना दी !

तदनन्तर योगीने ध्यानसे सब बातें जानकर कहा कि, 'जिसको रुपये मिले हैं, वह बड़ा पापी है और जिसके पैरमें चोट लगी है, वह बड़ा पुण्यात्मा है ! क्योंकि प्रारब्धके अनुसार पहलेको

आज सम्राट्का पद मिलना चाहिये था और दूसरेको सूली होनी चाहिये थी परन्तु पहलेके प्रबल पापने सम्राट्का पद केवल पाँच हजार रुपयोंमें बदल दिया और ये पाँच हजार भी, इसके अमुक साथीने जो पहले इसीके घरसे चुरा लिये थे, हैं, नहीं तो पराया धन ले लेनेका भारी पाप इसे और होता तथापि इसने 'पर-धन' जानकर भी मन चलाया, इसका पाप तो इसे अवश्य होगा। परन्तु दूसरेके प्रबल पुण्यसे सूली टलकर केवल काँचमात्रकी चोटमें ही फल भुगत गया।' इतना कहकर महात्माने योगबलसे दोनोंको उनके पूर्वकृत कर्मोंका दृश्य दिखलाया, जिससे उन लोगोंको स्पष्ट विदित हो गया कि ब्राह्मणके पूर्वकृत अच्छे नहीं थे जिससे वह दरिद्र था तथा आज उसे सूली होनी चाहिये थी। राजपूतके कर्म अच्छे थे जिससे वह धनी था और आज उसे सम्राट्का पद मिलनेवाला था। यह दृश्य देखकर ब्राह्मण और राजपूत दोनों मित्रोंको बड़ा दुःख हुआ। राजपूतको तो अपने वर्तमान कर्मोंके लिये बड़ा भारी पश्चात्ताप था और ब्राह्मण अपने मित्रके दुःखसे दुखी था।

महात्मा कहने लगे—'ब्राह्मण! तू अच्छे संगसे बड़े ही सन्मार्गमें चल रहा है। पूर्वके कर्म बुरे भी हों पर यदि मनुष्य

इस जन्ममें अच्छे कर्मोंमें लगा रहे तो पूर्वके कर्म उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। कर्म करनेकी स्फुरणा सञ्चितसे होती है। सबसे पहले स्फुरणा प्रायः उस सञ्चितकी होती है जो अत्यन्त नवीन होता है। जैसे, एक व्यापारीने किसी बड़ी गोदाममें बहुत-सा माल भर रक्खा है और नित्य नया माल भरता चला जा रहा है। अब यदि उसे उसमेंसे माल निकालना होता है तो सबसे पहले वही माल निकालता है जो सबसे पीछे रक्खा गया है क्योंकि वही पहलेके मालसे आगे रक्खा हुआ है। मनुष्यने पिछले जन्मोंमें जो कुछ कर्म किये हैं वे सब सञ्चित हैं और अब जो कुछ कर्म कर्तृत्वभावसे कर रहा है वह सब भी सञ्चित बन रहे हैं। स्फुरणा सञ्चितसे होती है इसलिये सबसे पहले वैसी ही स्फुरणा होगी जैसा नया सञ्चित होगा। नये सञ्चितके अनुसार स्फुरणा होनेमें सन्देह हो तो दो-चार दिन लगातार किसी काममें लग कर देखिये, मनमें उसी विषयकी स्मृति रहती है या नहीं! रोज नाटकमें जाइये, नाटकोंकी बातें स्मरण आयँगी। साधुओंके पास जाइये उनका स्मरण होगा। यह स्मृति ही स्फुरणा है जो नये सञ्चितसे होती है! नये सञ्चितका आधार है कर्म। अतएव

वर्त्तमान कर्म अच्छा होगा तो उसका सञ्चित भी अच्छा होगा। सञ्चित अच्छा होगा तो स्फुरणा भी अच्छी होगी। कर्म होनेमें स्फुरणा प्रधान है। स्फुरणा अच्छी होगी, तो पुनः कर्म अच्छा होगा। अच्छे कर्मसे पुनः अच्छा सञ्चित और अच्छे सञ्चितसे पुनः अच्छी स्फुरणा, फिर उससे पुनः अच्छा कर्म होगा। इसप्रकार लगातार शुभ कर्म बनते रहेंगे, जिनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर कभी भगवत्कृपासे तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि हो जायगी तो समस्त सञ्चित जलकर भस्म हो जायँगे। इसलिये सबको वर्त्तमानमें अच्छा कर्म करना चाहिये। दुष्ट सञ्चितवश मनमें बुरी स्फुरणा भी हो तो मनुष्यको उसे सत्संगसे—विचारसे दबाकर अच्छे ही कर्ममें लगे रहना चाहिये।

मनुष्य अधिक समयतक जिस विषयका स्मरण करता है क्रमशः उसीमें उसकी समीचीन बुद्धि होकर राग हो जाता है। जिसमें राग होता है उसीकी कामना होती है। जैसी कामना होती है वैसी ही चेष्टा होती है। वह चेष्टा ही कर्म है। फिर लगातार जैसे कर्म होते हैं, वैसी ही स्मृति होती है। यह ताँता चला ही जाता है। इस विषयमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। यह तो प्रतिदिनका सबका प्रत्यक्ष अनुभव है।

'हे ब्राह्मण ! तेरे पूर्वसञ्चित अच्छे न होनेपर भी तू इस जीवनके सत्संगसे अच्छे कर्म करने लगा । जिससे तेरे हृदयकी पूर्वजन्मार्जित कर्मजन्य बुरी स्फुरणाएँ दब गयीं । इस राजपूतके पूर्वसञ्चित शुभ होनेपर भी इसने कुसंगसे बुरे कर्म करने आरम्भ कर दिये, जिनसे लगातार बुरी स्फुरणाएँ हुईं और उनसे फिर लगातार बुरे कर्म होते गये । अच्छी स्फुरणाओंको प्रकट होनेका अवसर ही नहीं मिला । तेरे सत्कर्म बढ़ते रहे और इसके दुष्कर्म । फल यह हुआ कि फलदानोन्मुख प्रारब्धकर्ममें रुकावट पड़ गयी । रुकावट ही नहीं पड़ी, तेरी सूलीकी वेदना काँचकी चोटमें और इसका सम्राट्पद पाँच हजार रुपयोंके लाभमें बदल गया ।'

ब्राह्मणने कहा—'स्वामिन् ! मैंने यह सुन रक्खा है कि कर्मोंको भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता '*अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्*।' सञ्चितका नाश तो सम्भव है परन्तु प्रारब्धका नाश नहीं होता । वह तो छूटे हुए तीरकी भाँति भोगना ही पड़ता है । फिर क्या कारण है कि हम लोगोंके प्रारब्धकर्मके फलमें इतना परिवर्तन हो गया ?'

सन्त बोले—'तेरा कहना ठीक है, प्रारब्धका फल भोगे विना नाश नहीं होता, परन्तु पहले यह समझो कि प्रारब्ध क्या वस्तु है ? अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूपमें ही तो प्रारब्ध बना है, परन्तु अबसे एक क्षण पहले तुम जो कर्म कर चुके वह क्या पूर्वकृत नहीं है ? भाई ! कुछ कर्म ऐसे प्रबल होते हैं जो तुरन्त सञ्चित बनकर प्रारब्धके रूपमें परिणत हो अपना फल दे डालते हैं। ऐसा न होता तो 'पुत्रेष्टि' यज्ञमें पुत्रहीन-प्रारब्धवाले व्यक्तिको पुत्रकी प्राप्ति कैसे होती ? यज्ञरूप क्रियमाणसे सञ्चित होकर तुरन्त प्रारब्ध बन जाता है और वह पुत्र न होनेके प्रारब्धको पलट देता है। या यों कहो कि वह भी एक दूसरा प्रारब्ध ही बन जाता है। दूसरे, प्रायश्चित्तादिसे जो कर्मोंकी निवृत्ति लिखी है, उसमें भी तो रहस्य है। प्रायश्चित्त वास्तवमें कर्मोंका भोग ही तो है। किसीके ऋणको कोई रुपये देकर चुका दे या उसकी चाकरी करके भर दे, दोनों ही मार्गोंसे मनुष्य ऋणमुक्त हो सकता है। इसी प्रकार नवीन प्रारब्धका निर्माण या परिवर्त्तन होता है।

अवश्य ही ऐसे हाथों-हाथ प्रारब्ध बननेवाले प्रबल क्रियमाण कर्म बहुत थोड़े होते हैं। तुम दोनोंके हो गये, इससे तुम लोगोंके

भाग्यने भी पल्टा खाया । हरिभक्ति और हरिनामसे बड़े-से-बड़े पापोंका प्रायश्चित्त अनायास ही हो जाता है । अतएव हे ब्राह्मणकुमार ! इस कुसंगतमें पड़े हुए अपने मित्र राजपूतको अपने साथ ले जाओ और दोनों हरिसेवारूपी सत्कर्ममें लगे रहो ।' तदनन्तर सन्त राजपूतको सम्बोधन कर कहने लगे—'हे राजपूत ! तेरा भी बड़ा सौभाग्य है जो तुझे ऐसा सदाचारी मित्र मिला है, अब इसके साथ रह । कुसंगतिका त्याग कर दे और भगवान्‌का भजन कर । तुम लोगोंका मंगल होगा ।' साधु इतना कहकर चुप हो गये । दोनों मित्र दण्डवत् प्रणाम करके घर लौट आये और भगवद्भजनमें लग गये ।

इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वरके घर अन्याय नहीं है । अपनी-अपनी करनीका फल यथार्थरूपसे ही सबको मिलता है । जिन पापकर्म करनेवालोंकी सांसारिक उन्नति देखनेमें आती है उनके लिये यह समझना चाहिये कि या तो उनका शुभ प्रारब्ध इस समय फल भुगता रहा है, वर्त्तमान पाप कर्मोंका फल उन्हें आगे चलकर मिलेगा; या उनकी जो उन्नति देखी जाती है उससे बहुत ही अधिक होनेवाली थी जो वर्त्तमानके

प्रबल पाप कर्मोंके फलसे नष्ट हो गयी। यह कभी नहीं समझना चाहिये कि पाप करनेसे उन्नति होती है। लाखों-करोड़ों रुपयेकी आमद-रफ्त होनेपर भी शेषमें बचता उतना ही है जितना प्रारब्धवश बचनेको होता है। रात-दिनका कठिन परिश्रम, परिश्रम-जन्य बीमारियाँ और लोभवश किये हुए पापोंका सञ्चित और बुरे सञ्चितसे होनेवाली कुवासनारूपी हृदयकी बीमारियाँ आदि अवश्य बढ़ जाती हैं जो उसे चिरकालके लिये दुःख देनेवाली होती हैं।

अतएव पापकर्मोंसे सर्वदा बचे रहकर श्रीभगवान्‌का भजन-स्मरण करना चाहिये। भगवान् न्यायकारी होनेके साथ ही दयालु भी हैं, यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये। जो उनकी ओर एक कदम आगे बढ़ता है, भगवान् उसकी ओर पाँच कदम आगे बढ़ते हैं। वे जीवोंको सतत अपनी ओर खींच रहे हैं। उनकी कृपाका प्रवाह निरन्तर बह रहा है, जो उसमें डुबकी लगा लेता है वही कृतार्थ हो जाता है।

सच्ची साधना

हम बहुत ऊँची-ऊँची बातें करते हैं, ब्रह्मज्ञानका निरूपण करते हैं, बात-बातमें संसारके मिथ्या होनेकी सूचना देते हैं, लोगोंको उनके दोष दिखाकर बुरा कहते और भाँति-भाँतिके उपदेश देते हैं, परन्तु अपनी ओर बहुत कम देखते हैं। ऊँची-ऊँची बातें बनाते और ब्रह्मज्ञानका निरूपण करते समय भी हमारे हृदय-के किसी कोनेमें सम्मान या कीर्तिकी कामना छिपी रहती है,

ज़रा गहरे जाकर देखनेसे हम उसे तत्काल पकड़ सकते हैं। सच बात तो यह है कि जहाँ हमारा मन होता है, हम वहीं होते हैं और हमारी यथार्थ स्थितिका अन्दाज़ा भी उसीसे लग जाता है। यदि हमारे मनमें बार-बार काम, क्रोध, लोभकी वृत्तियाँ जाग्रत् होती हैं और ऊपरसे हम सत्सङ्गकी बातें कर रहे हैं तो समझना चाहिये कि अभीतक हम असली सत्सङ्गी नहीं बन सके हैं। असली सत्सङ्गी तब होंगे, जब हमारा हृदय 'सत्' रूप परमात्मा-के स्वरूपसे भर जायगा। काम, क्रोध और लोभकी वृत्तियाँ कभी धर्मानुकूल आवश्यक समझी जाकर जगानेपर भी नहीं जगेंगी। विषयोंके समीप रहनेपर भी विषयोंपर भोग-दृष्टिसे मन नहीं जायगा। खेदकी बात तो यह है कि आजकल हम सभी गुरु और उपदेशक बनना चाहते हैं, श्रद्धालु शिष्य बनकर साधनमें प्रवृत्त नहीं होना चाहते, अपने भीतर रहे हुए मलकी कुछ भी परवा न कर दूसरेका मल धोना चाहते हैं, परिणाम यह होता है कि हृदयमें मल और भी बढ़ जाता है, जिससे चित्त अशान्त होकर नाना प्रकारके अन्यान्य दोषोंको भी जन्म दे देता है। अनेक प्रकारके मत-मतान्तर, अभिमान, राग-द्वेष, क्रोध, हिंसा

आदिके उत्पन्न होनेमें इससे बड़ी सहायता मिलती है। अतएव उचित यह है कि हम अपनी ओर देखें, अपने हृदयके मलको धोयें, नम्रताके साथ दूसरोंसे कुछ सीखना चाहें और जो कुछ अच्छी बात मालूम हो, उसमें मन लगाकर चुपचाप उसका सेवन करें। एक आदमी यथार्थमें धनी हो और संसार उसे धनी न समझता हो तो उसकी कोई भी हानि नहीं होती, संसारके न माननेसे उसका धन कहीं चला नहीं जाता, परन्तु जो धन न होनेपर भी धनी कहलाता या कहलाना चाहता है, उसकी बुरी दशा होती है, वह स्वयं भी अनेक दुःख भोगता है और जगत्‌को भी धोखा देता है। इसी प्रकार सत्पुरुष कहलानेकी इच्छा नहीं रखकर सत्पुरुष बननेकी इच्छा रखनी चाहिये और उसके लिये श्रद्धाके साथ चुपचाप सदा प्रयत्न करने रहना चाहिये। जबतक अपना ध्येय न मिल जाय, तबतक दूसरी ओर ताकनेकी भी फ़ुरसत नहीं मिलनी चाहिये, यही सच्ची साधना है।

तृष्णा

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

बुढ़ापा आ गया, इन्द्रियोंकी शक्ति जाती रही, सब तरहसे दूसरोंके मुँहकी ओर ताकना पड़ता है परन्तु तृष्णा नहीं मिटी। 'कुछ और जी लूँ, बच्चोंके लिये कुछ और कर जाऊँ, दवा लेकर ज़रा ताजा होऊँ तो संसारका कुछ सुख और भोग लूँ। मरना तो है ही परन्तु मेरे हाथसे लड़केका विवाह हो जाय तो अच्छी बात है, दुकानका काम बच्चे ठीकसे सँभाल लें, इतना-सा उन्हें और ज्ञान हो जाय', बहुत-से वृद्ध पुरुष ऐसी बातें करते देखे जाते हैं। मेरे एक परिचित वृद्ध सज्जन जो लगभग करोड़पति माने जाते हैं और जिनके जवान पौत्रकी भी सन्तान मौजूद है, एक बार बहुत बीमार पड़े। बचनेकी आशा नहीं थी। बड़ी दौड़-धूप की गयी, भाग्यवश उस समय उनके प्राण बच गये। मैं उनसे

मिलने गया, मैंने शरीरका हाल पूछकर उनसे कहा कि—'अब आपको संसारकी चिन्ता छोड़कर भगवद्भजनमें मन लगाना चाहिये। इस बीमारीमें आपकी मरनेकी नौबत आ गयी थी, भगवत्कृपासे आप बच गये हैं, अब तो जितने दिन आपका शरीर रहे, आपको केवल भगवान्‌का भजन ही करना चाहिये।' उन्होंने कहा—'आपका कहना तो ठीक ही है परन्तु लड़का इतना होशियार नहीं है, पाँच साल मैं और ज़िन्दा रहूँ तो घरको कुछ ठीक कर जाऊँ, लड़का भी कुछ और समझने लगे। मरना तो है ही। क्या करूँ? भजन तो होता नहीं।' मैंने फिर कहा—'अब आपको घर क्या ठीक करना है? परमात्माकी कृपासे आपके घरमें काफी धन है। आपके लड़के भी बुड्ढे हो चले हैं। मान लीजिये, अभी आप मर जाते तो पीछेसे घरको ठीक कौन करता?' उन्होंने सरलतासे कहा—'यह तो मैं भी जानता हूँ परन्तु तृष्णा नहीं छूटती।'

इस सच्ची घटनासे पता लगता है कि तृष्णा किस तरहसे मनुष्यको घेरे रहती है। ज्यों-ज्यों कामनाकी पूर्ति होती है त्यों-ही-त्यों तृष्णाकी जलन बढ़ती चली जाती है।

निस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपः,
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेश्वरत्वं पुनः।
चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति,
ब्रह्मा विष्णुपदं पुनः पुनरहो आशावधिं को गतः॥

जिसके पास कुछ भी नहीं होता वह चाहता है मेरे सौ रुपये हो जायँ, सौ होनेपर हजारके लिये इच्छा होती है; हजार-से लाख, लाखसे राजाका पद, राजासे इन्द्रका पद, इन्द्र होनेपर ब्रह्माका पद पानेकी इच्छा होती है और ब्रह्मा होनेपर विष्णुपद-की कामना होती है। इस तरह तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, इसकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती।

मेरे एक मित्र मुझसे कहा करते हैं कि जब हम निर्धन थे तब यह इच्छा होती थी कि बीस हजार रुपये हमारे पास हो जायँगे तो हम केवल भगवान्का भजन ही करेंगे, परन्तु इस समय हमारे पास लाखों रुपये हैं, वृद्धावस्था हो चली है परन्तु धनकी तृष्णा किसी-न-किसी रूपमें बनी ही रहती है। यही तो तृष्णाका स्वरूप है।

जगत्के सुखभोगोंकी तृष्णाने ही लोगोंको भगवान्से विमुख कर रक्खा है। यह पिशाचिनी किसी भी कालमें भगवच्चिन्तनके

लिये मनका पिण्ड नहीं छोड़ती । सदा सर्वदा सिरपर सवार ही रहती है । रेलमें, मोटरमें, गाड़ीमें, जहाजमें, मन्दिरमें, मस्जिदमें दुकानमें, घरमें, बाजारमें, वनमें, सभामें और समारोहमें सभी जगह यह साथ रहती है । इसीसे मनुष्य दुःखोंसे छुटकारा नहीं पा सकता । भगवान् श्रीराम कहते हैं—

> सर्वसंसारदुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा ।
> अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसङ्कटे ॥

संसारमें जितने दुःख हैं उन सबमें तृष्णा ही सबसे अधिक दुःखदायिनी है । जो कभी घरसे बाहर भी नहीं निकलता तृष्णा उसे भी बड़े सङ्कटमें डाल देती है—

> भीषयत्यपि धीरं मामन्धयत्यपि सेक्षणम् ।
> खेदयत्यपि सानन्दं तृष्णा कृष्णेव शर्वरी ॥

तृष्णा महा अन्धकारमयी कालरात्रिकी तरह धीर पुरुषको भी डरा देती है । चक्षुयुक्तको भी अन्धा बना देती है और शान्तको भी खेदयुक्त कर देती है ।

विषय-तृष्णामें मतवाले मनुष्योंकी असफलताका दिग्दर्शन कराते हुए महाराज भर्तृहरि पुकारते हैं—

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो,
निस्तीर्णाः सरिताम्पतिर्नृपतयो यत्नेन संतोपिताः।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीता श्मशाने निशा,
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम्॥

धनकी तृष्णाने क्या-क्या काम नहीं कराये—

खोदत डोल्यो भूमि, गड़ीहु न पाई सम्पति।
धौंकत रह्यो पखान, कनकके लोभ लगी मति॥
गयो सिन्धुके पास, तहाँ मुक्ताहु न पायो।
कौड़ी कर नहिं लगी, नृपनको शीश नवायो॥
साधे प्रयोग श्मशानमें, भूत प्रेत वैताल सजि।
कित्तहूँ भयो न वांछित कछू अब तो तृष्णा मोहि तजि॥

गड़े धनके लिये जमीनका तला खोद डाला, रसायनके लिये धातुएँ फूँकीं; मोतियोंके लिये समुद्रकी थाह ली; राजाओंको सन्तुष्ट रखनेमें बड़ा यत्न किया; मन्त्रसिद्धिके लिये रातों श्मशान जगाया और एकाग्र होकर बैठा हुआ जप करता रहा, पर खेद है कि कहींपर भी एक फूटी कौड़ी हाथ न लगी। इसलिये हे तृष्णे! अब तो तू मेरा पिण्ड छोड़! फिर कहते हैं—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलं,
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशंकया काकवत्,
तृष्णे दुर्मतिपापकर्मनिरते नाद्यापि सन्तुष्यसि॥

भटक्यो देश-विदेश, तहाँ कछु फलहु न पायो।
निज कुलको अभिमान छोड़ सेवा चित लायो॥
सही गारि अरु खीझ हाथ झारत घर आयो।
दूर करतहूँ दौरि, स्वान जिमि परघर खायो॥
इहि भाँति नचायो मोहि तैं, बहकायो दै लोभतल।
अबहूँ न तोहि सन्तोष कछु, तृष्णा! तू पापिनि प्रबल॥

तृष्णासे ही इतनी लाञ्छना, निर्लज्जता और इतना अपमान, दुःख सहन करना पड़ता है।

एक दुःखके बाद नया दुःख आनेमें तृष्णा ही प्रधान कारण होती है। मनुष्य किसी भी अवस्थामें सन्तोष नहीं करता, इसीलिये बारम्बार उसकी स्थिति बदलती रहती है। तृष्णाके मारे भटकते-भटकते सारी उम्र बीत जाती है; अन्तमें वह जैसे-का-तैसा रह जाता है; पीछे हाथ मल-मलकर पछतानेसे भी कोई लाभ नहीं होता।

यदि भाग्यवश धन प्राप्त भी हो जाता है तब भी वह तृष्णा उसका कुछ विशेष सदुपयोग नहीं होने देती, सारी उम्र बातोंमें ही बीत जाती है।

अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको भोगोंकी तृष्णासे मुँह मोड़कर परमात्माके लिये तृषित होना चाहिये। भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होती *'बुझै न काम-अग्नि तुलसी बहु विषय-भोग अरु घी ते।'* अग्निमें घी डालते जाइये, वह और भी धधकेगी, यही दशा कामनाकी है। उसे बुझाना हो तो सन्तोषरूपी शीतल जल डालिये। धन तो वही असली है जिससे मनुष्यको सुख मिलता है। ऐसा धन सन्तोष है *'सन्तोषं परमं धनम्।'* ऐसे अनेक करोड़पति देखे जाते हैं जो तृष्णाके फेरमें पड़े हुए असन्तोष और अतृप्तिकी तीव्र आगसे जल रहे हैं। उनके अन्तःकरणमें क्षणभरके लिये भी शान्ति पैदा नहीं होती। इसीलिये तो वे महान् दुःखी रहते हैं—

—अशान्तस्य कुतः सुखम्।

न्यायसे धन कमाने और उसका सदुपयोग करनेकी मनाही नहीं है, परन्तु धनकी तृष्णासे मतवाले होनेकी आवश्यकता नहीं। इसीलिये शास्त्रोंमें इसके लिये एक मर्यादा बतायी है, क्योंकि

धनमें बड़ी मादकता होती है, धनमद सबसे बड़ा मद होता है। यह मद मनुष्यपर जब चढ़ जाता है तब उसे अन्धा बना देता है। फिर वह अपने सामने जगत्‌में किसीको भी बुद्धिमान् नहीं समझता। वे पुरुष धन्य हैं जो धन होते हुए भी मदहीन और विनम्र हैं, परन्तु ऐसे पुरुष संसारमें विरले ही होते हैं। धनकी स्वाभाविक मादकता आये बिना प्रायः रहती नहीं। अतएव साधक पुरुषोंको चाहिये कि वे आजीविकाके लिये उतना ही कार्य करें जिससे उनका गृहस्थ बड़ी सादगीके साथ साधारण रूपसे ठीक चलता रहे। धन बटोरकर भोग भोगने या पुण्य कमानेकी इच्छा रखकर धनके लिये तृष्णा न करें इससे परमार्थके साधनमें बड़ा विघ्न होता है।

धन कमाना बुरी बात नहीं है। धनकी तृष्णा ही बुरी है। जगत्‌के किसी भी भोग्यपदार्थकी तृष्णा मनुष्यको बन्धनमें डाल देती है। तृष्णा हो तो एक प्यारे मनमोहनके मुखकमल-दर्शनकी हो, जिससे त्रिविध तापोंका सदाके लिये नाश हो जाता है, परन्तु वह तृष्णा उन्हीं भाग्यवानोंको नसीब होती है जो भोगोंकी तृष्णाको विषवत् त्याग देते हैं। जो जगत्‌के केवल देखनेमें रमणीय पदार्थोंके असली जहरीले रूपको पहचानकर उनसे मुँह

मोड़ लेते हैं, उन्हींके अन्त:करणमें भगवच्चरण-दर्शनकी तीव्र पिपासा उत्पन्न होती है। फिर वे पागल हो उठते हैं उस रूप-माधुरीका दर्शन करनेके लिये। उन्हें दूसरी बात सुहाती नहीं। जगत्के विषयी लोग कोई उन्हें पागल समझते हैं, कोई मूर्ख समझते हैं, कोई निकम्मा समझते हैं, कोई अशक्त समझते हैं और कोई अविवेकी समझते हैं परन्तु वे अपनी उसी धुनमें इतने मस्त रहते हैं कि निन्दकोंकी ओर ताकनेकी भी उनको फुरसत नहीं मिलती। प्यासके मारे जिसके प्राण छटपटाते हों, वह जलको छोड़कर दूसरी ओर कैसे ताकेगा ? उसे जबतक जल नहीं मिल जायगा तबतक जगत्की गप्पें कैसे सुहावेंगी ? वह तो दौड़ेगा वहींपर जहाँ उसे जल दीखेगा। वह क्यों परवाह करेगा लोगोंकी ज़बानकी ? जिसके मनमें जो आवे सो कहे, उसे तो अपने कामसे काम। जो जगत्की ओर ताकते हैं, उनकी बात सुनते और उन्हें जवाब देनेके लिये ठहरते हैं उन्हें पूरी प्यास नहीं होती, वे प्यासकी अधिकतासे छटपटाने नहीं लगते। इसीलिये उन्हें सुनना, ठहरना और जवाब देना सूझता है। जिसके तृष्णा बढ़ जाती है वह तो उन्मत्त हो जाता है।

लगी है प्यास ज़ोरोंसे ढूँढ़ता हूँ सरोवरको।
सुहाता है नहीं कोई मुझे अब दूसरा कुछ भी॥

जब इतनी तृष्णा बढ़ती है तब भगवान्‌का आसन डोल जाता है, उन्हें आना पड़ता है वैकुण्ठ छोड़कर, उस रूपके प्यासे मतवाले भक्तको अतुल सौन्दर्यसुधा पिलाकर सदाके लिये तृप्त और सन्तुष्ट कर देनेके लिये ! भगवान्‌के इस मनोहर मिलनसे संसारकी समस्त ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं, उसकी जन-मन-हर अनोखी वाणी सुनते ही अविद्याकी बेड़ियाँ पटापट टूट जाती हैं, कर्मोंका बन्धन खुल पड़ता है। अमावस्याकी घोरनिशा शरद्-पूर्णिमाके अमृत भरे प्रकाशके रूपमें परिणत हो जाती है। धन, मान, कुल, विद्या और वर्णका सारा अभिमान उस प्रियतमके प्रेमकी बाढ़में बह जाता है—मायाका लेन-देन चुक जाता है। उसके लिये दरवाज़ा खुल जाता है उस सर्वत्र अबाधित परमात्माके परम धामका। उसके कोई भी अपना-पराया नहीं रह जाता, सर्वत्र ही मोहनकी मधुर मुरलीका सुरीला स्वर सुनायी पड़ने लगता है और दीखने लगता है सर्वत्र केवल उस एकका अपार विस्तार। ऐसी स्थितिमें वह उसीमें अनुरक्त, उसीमें तृप्त और उसीमें सन्तुष्ट हो रहता है। उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता—

—तस्य कार्यं न विद्यते।

भक्तिके साधन

भक्तिके साधकोंके लिये यहाँ कुछ नियम लिखे जाते हैं। इनमेंसे जो साधक जितने अधिक नियमोंका पालन कर सकेंगे, उन्हें उतना ही अधिक लाभ होगा।

१–असत्य, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, अभक्ष्य भक्षण बिलकुल छोड़ दे।

२–दम्भ कभी न करे, भक्त बननेकी चेष्टा करे–दिखलानेकी नहीं।

३–कामनाका सब तरह त्याग करे, भजनके बदलेमें भगवान्‌से कुछ भी माँगे नहीं।

४–अष्टमैथुनका त्याग करे, पुरुष अपनी विवाहिता पत्नीसे और स्त्री अपने विवाहित पतिसे भी जहाँतक हो सके बहुत ही कम सहवास करे। दोनोंकी सम्मतिसे बिलकुल छोड़ दें तो सबसे अच्छी बात है।

५–स्त्री परपुरुष और पुरुष परस्त्रीका बिलकुल त्याग करे। जहाँतक हो एकान्तमें मिलना-बोलना कभी न करे।

६–मानकी इच्छा न करे, अपमानसे घबरावे नहीं, दीनता और नम्रता रक्खे, कड़ुआ न बोले, किसीका भी बुरा न चाहे, परचर्चा–परनिन्दा न करे और किसीसे भी घृणा न करे।

७–रोगी अपाहिज अनाथकी तन-मन-धनसे स्वयं सेवा करे, अपनी किसी प्रकारकी सेवा भरसक किसीसे न करावे।

८–भरसक सभा-समितियोंसे अलग रहे, समाचारपत्र अधिक न पढ़े; बिल्कुल न पढ़े तो और भी अच्छी बात है।

९–सबका सम्मान करे, सबसे प्रेम करे, सबकी सेवाके लिये सदा तैयार रहे।

१०–तर्क न करे, वादविवाद या शास्त्रार्थ न करे।

११–भगवान्, भगवन्नाम, भक्त और भक्तिके शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास और परम श्रद्धा रक्खे।

१२–दूसरेके धर्म या उपासनाकी विधिका विरोध न करे।

१३–दूसरोंके दोष न देखे, अपने देखे और उन्हें प्रकाश कर दे।

१४—माता, पिता, स्वामी, गुरुजनोंकी सेवा करे।

१५—नित्य सुबह-शाम दोनों वक्त ध्यान या मानसिक पूजा करे और विनयके पद गावे।

१६—प्रतिदिन भगवान्‌के नामका कम-से-कम पचीस हजार जप जरूर करे। नाम वही ले, जिसमें रुचि हो। 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' मन्त्रकी १६ मालामें इतना जप हो सकता है।

१७—कम-से-कम पन्द्रह मिनट रोज सब घरके लोग (स्त्री-पुरुष-बालक) मिलकर नियमितरूपसे तन्मय होकर भगवन्नाम-कीर्तन करें।

१८—भगवद्गीताके एक अध्यायका अर्थसहित नित्य पठन करे।

१९—भगवान्‌की मूर्त्तिके प्रतिदिन दर्शन करे, पास ही मन्दिर हो और उसमें जानेका अधिकार हो तो वहाँ जाकर दर्शन करे, नहीं तो घरमें मूर्ति या चित्रपट रखकर उसीका दर्शन करे।

२०—जहाँतक हो सके, मूर्तिपूजा करे, स्त्रियोंको मन्दिरोंमें जानेकी जरूरत नहीं, वे अपने घरमें ठाकुरजीकी मूर्ति रखकर सोलह उपचारोंसे रोज पूजा कर लिया करें।

२१—संसारके पदार्थोंमें भोग-दृष्टिसे वैराग्य और सबमें ईश्वर-दृष्टिसे प्रेम करनेका अभ्यास करे।

२२—ईश्वर, अवतार, सन्त-महात्माओंपर कभी शंका न करे।

२३—यथासाध्य और यथाधिकार उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत (कम-से-कम ११वाँ स्कन्ध) महाभारत (कम-से-कम शान्ति और अनुशासनपर्व) वाल्मीकीय रामायण, तुलसीदासजीका रामचरितमानस, सुन्दरदासजीका सुन्दरविलास, समर्थ रामदासजी-का दासबोध, भक्तमाल, भक्तोंके जीवनचरित आदि ग्रन्थोंको पढ़ना, सुनना और विचार करना चाहिये।

२४—भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनरसिंह आदि अवतारों-के समयनिर्णय और उनके जीवनपर विचार आदि न करके उनका भक्तिभावसे भजन करना चाहिये। पेड़ गिननेवालेकी अपेक्षा आम खानेवाला लाभमें रहता है। थोड़े जीवनको असली काममें ही व्यय करना चाहिये।

ईश्वर-विरोधी हलचल

कुछ समय पूर्व सोवियट रूसके मास्को नगरमें 'ईश्वर-विरोधी सम्मेलन'का एक अधिवेशन हुआ था, जिसमें रूसके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके अनुमान सात-सौ व्यक्ति प्रतिनिधिके रूपमें और अन्य देशोंके अनेक स्त्री-पुरुष दर्शकके रूपमें सम्मिलित हुए थे। पता नहीं, उसमें कौन-कौनसे प्रस्ताव स्वीकृत हुए परन्तु सम्मेलनके नामसे ही प्रस्तावोंके स्वरूपका अनुमान किया जा सकता है। सम्भव है जीवोंके दुर्भाग्यवश वर्तमान संसारकी पतित सभ्यता और मरणोन्मुखी शिक्षा-दीक्षाके प्रभावसे इसप्रकारके आन्दोलनका जगत्‌में और भी विस्तार हो, परन्तु यह निश्चित बात है कि इससे बढ़कर बुरा आन्दोलन और महापातक दूसरा नहीं हो सकता। जो भाई सुख-शान्तिकी भ्रमपूर्ण दुराशासे इसप्रकारके घृणित आन्दोलनसे प्रेम या सहानुभूति रखते हैं वे बड़ी भारी भूल कर रहे हैं। धर्मका बाह्य रूप कुछ भी क्यों न रहे, उसमें यथावश्यक कितने ही सुधारोंकी गुंजाइश क्यों न समझी जाय, परन्तु ईश्वर-

की सत्ताका विरोधकर धर्मके मूल तत्त्वपर कुठाराघात करना पिशाचावेशित प्रमत्त पुरुषोंकी पातकमयी क्रियाके सिवा और कुछ भी नहीं है। जिस साम्य और विश्व-सुखके परिणामपर पहुँचनेके लिये ईश्वरका विरोध किया जा रहा है, वह साम्य और विश्व-सुख माया-मरीचिकाकी भाँति एक भ्रमपूर्ण अध्यासमात्र होगा और परिणाममें भीषण अशान्ति, दुःख और उपद्रवके दारुणार्णवमें डूब जाना पड़ेगा।

जबतक सारे विश्वमें परमात्माकी अखण्ड सत्ताका अनुभव नहीं होता, तबतक प्रकृत साम्य और तज्जनित आत्यन्तिक सुख-की कभी सम्भावना नहीं है। ईश्वर-विरोधी विचार परमात्माकी सत्ताका खण्डन करते हैं, दुर्बल मनुष्य-प्राणीकी यह अविवेक-पूर्ण अहम्मन्यता उसके समस्त सुखोंके नाशका कारण होगी। साम्यके नामपर विषमय विषमताका विस्तार हो जायगा।

इससे पूर्व भी जगत्में ईश्वरकी सत्तामें अविश्वास करने-वाले मनुष्य पैदा होते रहे हैं, उन लोगोंने भी मोहवश उस समयकी स्थितिके अनुसार अपने विचारोंका प्रचार किया है। श्रीमद्भगवद्गीताके आसुरी सम्पदाके प्रकरणमें इसी तरहके लोगोंकी ओर संकेत कर उनकी भावी दुर्गतिका वर्णन किया गया है।

यह निश्चित है कि ईश्वरकी सत्ताको न माननेवाला समाज आरम्भमें सदाचारकी भित्तिपर प्रतिष्ठित होनेपर भी आगे चलकर भयानक असदाचारी हो जाता है। भगवान्का भय और भगवान्का भरोसा ही मनुष्यको पापसे बचानेका एकमात्र सर्वोत्तम साधन है, ये दोनों बातें भगवान्की सत्ता स्वीकार किये बिना हो नहीं सकतीं। जहाँ ये दोनों नहीं होतीं, वहीं मनुष्य उच्छृङ्खल और निराधार हो जाता है। फिर वह सुखस्वप्नकी कल्पनाकर उसके साधनस्वरूप नाना प्रकारके मनमाने आचरण करता है और बात-बातमें भय तथा वेदनासे बचनेके लिये दुष्कर्मोंका आश्रय लेना चाहता है। इससे आगे चलकर अभ्यास-क्रमसे वह महान् दुराचारी, क्रूर और नराधम बन जाता है। ऐसे ही मायामुग्ध मूढ़ मनुष्योंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने यह घोषणा की है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

ऐसे मनुष्य दम्भ, मान और मदसे युक्त होकर कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंके शिकार बन नाना प्रकारके भ्रष्ट आचरणोंमें पड़कर स्वयं कष्ट भोगते हैं और दूसरोंके कष्टका कारण बनते हैं। अनेक प्रकारकी चिन्ताओं और सैकड़ों

आशाओंकी कठिन फाँसियोंमें जकड़े हुए ये लोग काम-क्रोधको ही उद्देश्य-सिद्धिका प्रधान साधन समझकर अन्यायपूर्वक अर्थ-सञ्चयकी चेष्टामें लगे रहते हैं। 'कामोपभोग' ही इनके जीवनका उद्देश्य होता है और इसीके लिये ये पशु और पिशाचवत् जीवन बिताते हुए ही एक दिन मर जाते हैं! ईश्वरकी सत्ताके विरोधियोंका यह परिणाम अवश्यम्भावी है।

स्थूल भोगवादकी शिक्षा, भोगोंमें महत्त्व-बुद्धि, ऐहिक उन्नतिका माहात्म्य और उससे सुखी होनेकी आशा, भोगियोंके भोगोंको देखकर मनमें उत्पन्न हुई कामना, ईर्ष्या, जलन और प्रतिहिंसा, गरीबोंके प्रति शासक और धनवानोंका दारुण विषम व्यवहार, शास्त्रोंकी अवहेलना, रेल, तार, समाचारपत्रोंका अधिक प्रचार और ईश्वरको माननेका दम भरनेवाले लोगोंके अक्षम्य दम्भ-दुराचारका विस्तार आदि अनेक कारणोंसे 'ईश्वर-विरोधी' वायुमण्डल तैयार हुआ है और इस समयके लक्षण इसकी वृद्धिके अनुकूल हैं, जो बढ़नेपर विश्वव्यापी महान् अशान्ति और क्लेशका निश्चित कारण होगा।

अनेक कारणोंसे छिन्न-भिन्न और कलुषित हुए भारतके आकाशमें भी इस दूषित वायुका प्रवेश हो गया है। एक दिन

जिस देशमें आबालवृद्ध-वनिता परमात्माकी सत्ताके अटल विश्वासी थे, ईश्वरकी सत्ताका प्रत्यक्ष दर्शन जिस देशमें सबसे पहले हुआ था, उसी पवित्र देशमें आज जगह-जगह ईश्वरकी दिल्लगियाँ उड़ायी जाती हैं और वह अपनेको शिक्षित, संस्कृत और प्रगतिके पथपर आरूढ़ माननेवाले लोगोंके मनोविनोदका कारण होता है। ईश्वरकी अनावश्यकता और ईश्वरकी सत्ताके विरोधमें लेख और व्याख्यान होते हैं। ईश्वर दया करके इन भूले हुए भाइयोंको सद्‌बुद्धि प्रदान करे!

अब मुझे सर्वसाधारणकी सेवामें, जो ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करते हैं, नम्रतापूर्वक कुछ निवेदन करना है। नारद-भक्तिसूत्रमें कहा है—'ईश्वरको न माननेवाले नास्तिकका कभी स्मरण भी नहीं करना चाहिये।' क्योंकि उससे मनुष्यकी दुर्बल और सन्देहयुक्त बुद्धिमें भ्रम होनेकी विशेष सम्भावना है। इसीसे सन्तोंने कहा है—'*हरि हर निन्दा सुनै जो काना, होइ पाप गोघात समाना।*' परमात्माकी निन्दा करना और सुनना बड़ा भारी पातक है। इसलिये यथासाध्य इन दोनों ही कार्योंसे बचना चाहिये। ऐसा साहित्य, ऐसा सङ्ग, ऐसा दृश्य यथासाध्य

कभी नहीं पढ़ना, सुनना, करना और देखना चाहिये, जिसमें ईश्वरके विरोधकी तनिक-सी भी बात हो ।

लोग कहेंगे—'यों डरनेसे कबतक बचे रहेंगे ? जिस तरहके वायुमण्डलमें रहेंगे वैसा ही तो असर होगा, इसलिये इस तरहका कोई उपाय होना चाहिये जो ऐसे वायुमण्डलका हमपर कोई असर ही न हो।' बात बहुत ठीक है । हमें अपनेको ऐसे ही दिव्य कवचसे संरक्षित होना पड़ेगा जो किसी भी वातावरणमें, कैसे भी भयानक आघातमें सर्वथा सर्वदा सुरक्षित रह सके । परन्तु सब आदमी ऐसे नहीं बन सकते । इसके लिये कुछ साधना करनी पड़ेगी ! भगवान्‌की शरणागति ही यह दुर्भेद्य कवच है, जिसके प्राप्त करनेमें साधनाकी अपेक्षा है । जो लोग इस कवचको प्राप्त करना चाहें, उन्हें अपनेको विशुद्ध बनाकर साधनामें लग जाना चाहिये । जो पुरुष इस प्रकारकी साधनामें संलग्न हैं, उन्हें ढूँढ़कर उनसे मिलना और साधनाकी परम गोपनीय बातोंको यथाधिकार जानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये । पर सर्वसाधारणके लिये, जो बहुत बड़ी-बड़ी समताकी बातें सुनकर भ्रममें पड़ जाते हैं, यह उपाय लागू नहीं हो सकता, उन लोगों-

को तो धधकती हुई अग्नि समझकर 'ईश्वर-विरोधी' हलचलसे बचना चाहिये।

आवश्यकतासे अधिक बुद्धिवादके इस ज़मानेमें—शुष्क तर्कजालके मोहमय विस्तारमें यह खूब सम्भव है कि इस तरहकी बातें मूर्खताकी, अन्ध-श्रद्धाकी और गिरानेवाली समझी जायँ, परन्तु मेरी समझमें ईश्वरमें विश्वासी बने रहकर मूर्ख, अन्धश्रद्धालु और भ्रमित हुई लोकदृष्टिमें गिरा हुआ समझा जाना उससे बहुत अच्छा है जो बड़ा विद्वान् तार्किक और आगे बढ़ा हुआ कहलाने-पर भी ईश्वरकी सत्ताका अविश्वासी होकर यथेच्छाचार करता है। ईश्वरको माननेवाला मूर्ख तर सकता है परन्तु ईश्वरका विरोधी तार्किक कोई भी सहारा न पाकर मँझधारमें डूब जाता है।

यह कहा जा सकता है कि जो लोग अपनेको ईश्वरका माननेवाला बतलाते हैं, वे क्या वास्तवमें ईश्वरको मानते हैं? यदि वे ईश्वरको मानते हैं तो सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी ईश्वरके सब जगह सामने रहनेपर भी छिपकर पाप क्यों करते हैं, अपने मनोंमें पापोंको स्थान क्यों देते हैं? और यदि वे ऐसा करते हैं तो फिर उनका ईश्वरको मानना क्या निरा ढोंग नहीं है? यदि उनका यह ढोंग है तो फिर मन और

मुखको एक करके सत्यके आधारपर मनकी बात स्पष्ट कहनेवाले क्या अपराध करते हैं? इसका उत्तर यह है कि ईश्वरको सर्वव्यापी माननेवालोंका छिपकर पाप करना या मनमें भी पापको स्थान देना अवश्य ही अस्वाभाविक एवं ईश्वरकी मान्यतामें कलङ्क है और दुःख है कि ऐसी बातें आजकल बहुत ज्यादा हो गयी हैं, परन्तु सच पूछा जाय तो यह उन लोगोंका अज्ञान है, न कि ईश्वरमें अविश्वास! अज्ञानपूर्वक विपरीत काम करनेवाला ढोंगी नहीं होता अविवेकी मूर्ख या पथ-भ्रष्ट होता है। (अवश्य ही ऐसे कुछ ढोंगी भी मिल जायँगे, जो सभी क्षेत्रोंमें मिलते हैं) पथ-भ्रष्ट मनुष्य मार्गपर आ सकता है परन्तु जो उस पथको पथ और उस लक्ष्य-को लक्ष्य ही नहीं मानता, उसका उस लक्ष्यके लिये उस पथपर आना और चलना बहुत ही कठिन है, इसी प्रकार ईश्वरकी सत्ताको मानकर भी अज्ञानवश पापोंमें प्रवृत्त होनेवाले जो अज्ञानी या पथ-भ्रष्ट हैं वे किसी समय अपनी भूल समझकर पथ-पर आ सकते हैं, परन्तु जिसने यह निश्चय कर लिया कि ईश्वर है ही नहीं, उसके लिये क्या उपाय है? इससे कोई यह न समझे कि मैं पापका समर्थन करता हूँ। पापका समर्थन तो किसी अंशमें नहीं किया जाना चाहिये, परन्तु पाप क्यों होता है, किस परि-

स्थितिमें होता है, इसे विचारकर उसकी तारतम्यता अवश्य देखनी चाहिये। प्रायः सभी लोग भोगोंमें आसक्त हैं। आसक्तिवश पाप होते हैं परन्तु ईश्वरकी सत्ताको माननेवाले अधिकांश लोग बहुत बार पाप करते समय न्यायकारी ईश्वरसे डरकर पापसे हट जाते हैं। बहुतसे लोगोंको तो पापका विचार आते ही मनमें डर हो जाता है कि न मालूम ईश्वर इस अपराधका मुझे क्या दण्ड देंगे। कुछ लोग जो आसक्तिवश पाप कर बैठते हैं, वे ईश्वरके भयसे उसके बाद पश्चात्ताप करते हैं, ईश्वरसे क्षमा माँगते हैं और भविष्यमें पाप न करनेका संकल्प करते हैं। कुछ लोग पापमें प्रवृत्त होनेपर दूसरोंके द्वारा ईश्वरकी आज्ञाका स्मरण दिलाते ही पापोंसे बच जाते हैं। परन्तु जो ईश्वरकी सत्ताको न मानकर परलोकके भयसे मुक्त हो गया है उसका पापोंसे बचना बहुत कठिन होता है, वह तो बेधड़क अनाचार अत्याचार करता है और किसी तरह भी छल-बल-कौशलसे अपने जीवनको कल्पित सुखोंमें—जो अशान्ति और प्रमादसे पूर्ण और परिणाममें महान् कष्टकर होते हैं—बिता देता है।

ईश्वरको माननेवालेके द्वारा आसक्तिके कारण कभी-कभी पाप बन जानेपर भी वह उनसे छूटनेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करता है,

ईश्वरके बलपर अपनेको पवित्र करना चाहता है। ईश्वरके आधार और भरोसेपर वह महान्-से-महान् सङ्कटके समय भी पापका आश्रय नहीं लेना चाहता, वह समझता है कि ईश्वर सङ्कटमें मेरी सहायता करेंगे, मुझे तो उनका प्रिय कार्य करना चाहिये, फिर उनकी कृपासे मेरे सारे सङ्कट आप ही दूर हो जायँगे। यह समझकर वह ईश्वरकी दयाके भरोसे पापोंमें प्रवृत्त नहीं होता, परन्तु ईश्वरको न माननेवालेको तो सङ्कटसे बचनेके लिये छल और हिंसा आदि पापोंके सिवा और कोई सहारा ही नहीं सूझता। वह जानता है कि यहाँ किसी तरहसे दुःखसे बच जाना ही बुद्धिमानी और बहादुरी है, आगे तो कुछ है ही नहीं।

ईश्वरकी सत्ता न माननेसे इस प्रकार पापोंकी वृद्धि होकर संसार क्रमशः केवल पापका क्रीड़ा-क्षेत्र बन जा सकता है। अतएव, ईश्वर-विरोधी प्रत्येक लेख, ग्रन्थ, व्याख्यान, गल्प, बातें, दृश्य आदिसे सावधानीके साथ सदा बचना चाहिये।

दो-चार शब्द उन भूले हुए भाइयोंसे कहना आवश्यक है, जो ईश्वरके नामपर वास्तवमें किसी दुरभिसन्धिसे, दम्भसे या स्वार्थसाधनके लिये पापका आचरण करते हैं; वे स्वयं डूबते हैं और दूसरोंको डुबाते हैं। मन्दिरोंमें बैठकर पर-धन और पर-स्त्रीकी

ओर बुरी नज़रसे देखना, हाथमें और गलेमें माला धारण करके मनमाने पाप करना, बात-बातमें ईश्वरका नाम लेकर ईश्वरकी आज्ञाओंका बुरी तरहसे उल्लंघन करना, ईश्वरके नामपर धन बटोर कर उसे अपने शरीरकी सजावट और भोग-विलासमें व्यय करना वास्तवमें ईश्वरको धोखा देनेका काम है जो स्वयं बड़ा भारी धोखा खानेका कारण होता है ! ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटकी जानते हैं, कोई भी घटना चाहे वह कितनी ही गुप्त क्यों न हो, उनसे छिपी नहीं है। ऐसी अवस्थामें उनके नामपर पाप करना बहुत बड़ा अपराध है। शीघ्र ही सावधान हो जाना चाहिये। सच पूछिये तो ईश्वर-विरोधी वातावरणके बननेमें इस तरहके आचरण भी एक मुख्य कारण है।

मित्रो ! यह निश्चय समझिये—परम सत्य समझिये कि—ईश्वर है, अवश्य है, कण-कणमें व्याप्त है, चराचरमें भरा हुआ है, वही सृष्टिको उत्पन्न करता है, उसीमें सबका निवास है और उसीमें सृष्टि लय हो जाती है। वह करुणामय है, न्यायकारी है, दयालु है, प्रेमका समुद्र है, सर्वशक्तिमान् है, विश्वात्मा है। उसकी सत्तामें विश्वास कीजिये, उसकी शक्तिका भरोसा रखिये और उसीकी अहैतुकी दयालुताका अश्रय ग्रहण कीजिये।

ईश्वरकी ओर झुकें

एक बहिन लिखती है कि माताएँ मोह छोड़कर बालकोंको पढ़नेके लिये गुरुकुलोंमें भेजें, गहने तथा विलायती वस्त्रोंसे घृणा करें और शौकीनी छोड़कर ईश्वरकी ओर झुकें, इन विषयों-पर कुछ अवश्य लिखना चाहिये। एक दूसरी सुशिक्षिता बहिनने वर्तमान स्कूल-कालेजोंकी बुराइयाँ, बढ़ती हुई फैशन और कर्तव्यविमुखता, धर्म-हीनता, ईश्वरभक्तिका ह्रास, विलासिता और विदेशी सभ्यताकी तरफ शिक्षिता बहनोंकी बढ़ती हुई रुचिकी ओर ध्यान खींचते हुए इन बुराइयोंसे बचकर सब परमात्माकी ओर झुकें इस विषयपर कुछ लिखनेके लिये विशेषरूपसे आग्रह किया है।

यद्यपि साधारणतः अध्यात्मविद्याके प्रचार और विलासिता त्यागकर ईश्वरकी ओर झुकनेके विषयमें प्रायः लिखा ही जाता है और हमारा विचार ईश्वरभक्ति, वैराग्य और

सदाचारके सिवा अन्य बहिरंग विषयोंपर कुछ लिखनेका था भी नहीं, तथापि इन बहिनोंके विशेष अनुरोधसे आज प्रसङ्गवश इन विषयोंपर कुछ लिखना पड़ा है। किसी बहिन या भाईको कोई शब्द अप्रिय लगे तो वे क्षमा करें। हमारा विचार किसीके चित्त-पर आघात पहुँचानेका नहीं है, अपना मत जो कुछ हृदयसे ठीक जँचा वही लिख दिया है। यह आग्रह भी नहीं है कि, कोई इसे मानें। यदि किसीको अपनी बुराइयाँ दीखें तो उन्हें सुधारनेका अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। पहली बहिनने तीन विषय बतलाये हैं। इन तीनोंपर विवेचन करनेमें दूसरी बहिनकी बातोंका उत्तर भी शायद आ जायगा।

(१) माताएँ मोह छोड़कर अपने बालकोंको ऋषिकुल-गुरुकुलोंमें भेजें।

(२) गहने और विलायती वस्त्रोंका व्यवहार तथा शौकीनी छोड़ें।

(३) ईश्वरकी ओर झुकें।

इन तीनोंमें तीसरी बात सबसे पहले आवश्यक है। मनुष्यजीवन ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही है। समस्त सांसारिक

कार्य इसी महान् उद्देश्यको सतत सामने रखकर करने चाहिये। इसीको भूल जानेके कारण आज हम लक्ष्य-भ्रष्ट होकर अनेक प्रकारके कष्ट भोग रहे हैं, इसीसे आज हमारा जीवन अशान्त और त्रिताप-तप्त है, इसीसे तरह-तरहके दुःख-दावानलसे जगत् दग्ध हो रहा है, इसीसे हमारा कोई कार्य शुद्ध सात्त्विकताको लिये हुए प्रायः नहीं होता ! यदि मनुष्य अपने इस महान् लक्ष्य-पर स्थिर होकर समस्त कर्म भगवान्की '*कुरुष्व मदर्पणम्*' आज्ञाके अनुसार उनके अर्पण-बुद्धिसे करने लगे तो सारे दुःख-कष्टोंका अनायास ही अन्त हो सकता है। अतएव, ईश्वरकी ओर झुकना तो सबसे पहले और सबसे अधिक आवश्यक बात है। इसमें स्त्री-पुरुषका कोई भेद नहीं है। ईश्वर-प्राप्तिके सब समान अधिकारी हैं। सरलहृदया स्त्रियाँ तो तर्क-जालग्रस्त पुरुषोंकी अपेक्षा सच्ची भक्ति होनेपर सम्भवतः परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र कर सकती हैं।

आवश्यकता लक्ष्य बदलनेकी है, कर्मोंका स्वरूप बदलनेकी नहीं। घरका प्रत्येक कार्य ईश्वरकी सेवा समझकर निःस्वार्थबुद्धिसे करना ईश्वर भक्ति ही है। जो स्त्री-पुरुष परमात्माका नित्य स्मरण रखते हुए सब कार्य उसीकी आज्ञानुसार उसीके लिये करते हैं,

वे भी सच्चे भक्त हैं, ऐसे भक्तोंसे पापकर्म कभी नहीं हो सकते। शरीरसुखकी स्पृहा ही पाप करानेमें प्रधान कारण होती है, जब साधककी बुद्धि ईश्वरकी सेवाके महत्वको जान जाती है तब उसमें शरीर-सुख-स्पृहा नहीं ठहर सकती। जैसे सूर्यका उदय होनेपर अन्धकारको कहीं जगह नहीं मिलती, इसीप्रकार ईश्वरप्रेमकी जागृति होनेपर विषयप्रेमका नाश हो जाता है। जब विषयप्रेम ही नहीं रहता तब विषयोंकी प्राप्तिके लिये पाप क्यों होने लगे? अतएव हमारी मा-बहिनोंको चाहिये कि वे अपने जीवनकी गति ईश्वरकी ओर कर दें। यह हो जानेपर सारा मोह आप-से-आप छूट जायगा, ईश्वरप्रेमसे सात्त्विक भावोंके विकासके साथ-ही-साथ बुद्धि इस बातका अचूक निर्णय करनेमें आप ही समर्थ हो जायगी कि कौन-सा काम करना और कौन-सा नहीं करना चाहिये!

आज जो माताएँ बालकोंको मोहवश या मिथ्या प्यार-दुलारके कारण पाठशालाओंमें भेजनेसे हिचकती हैं, विद्यालाभकी अवधिसे पूर्व ही प्रमादवश बालकोंका विवाहकर वधूका मुख देखना चाहती हैं, कर्तव्यका ज्ञान होनेपर वे स्वयं हानि-लाभ समझकर उचित व्यवस्था करने लगेंगी। वही माता-पिता बालक-

के वास्तविक हितैषी हैं जो उसे सत्‌विद्या सिखाकर इस लोक और परलोकमें सुखी बनानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु जो मोह या स्वार्थवश उन्हें पढ़ाना नहीं चाहते, या ऐसी विद्या पढ़ाते हैं जिससे वे किसी भी भले-बुरे उपायसे केवल धन कमाना ही सीख जायँ, अथवा उन्हें बाल्यावस्थामें ही विवाह-बन्धनमें बाँध-कर उनके ब्रह्मचर्यका नाश कर डालते हैं वे वास्तवमें बालकोंके सच्चे हितैषी मा-बाप नहीं हैं।

परलोकवाद और परमात्माको माननेवाले प्रत्येक व्यक्तिको यह मानना पड़ेगा कि अपने किये हुए अच्छे-बुरे कर्मोंके अनुसार परमात्माके विधानसे अच्छी-बुरी योनियाँ और सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। अच्छे-बुरे कर्मोंका होना सत्संग-कुसंग और सत्‌विद्या-कुविद्यापर विशेष निर्भर करता है, अतः जो माता-पिता बालकोंको कुसंगमें रखकर या उन्हें कुविद्या-दान करवाकर उनके भविष्य-जीवनको—परलोकको बिगाड़ देते हैं, वे वास्तवमें उनके साथ भ्रमवश शत्रुताका ही कार्य करते हैं।

प्राचीनकालकी शिक्षापद्धति और शिक्षालयोंमें जो बात थी सो आज नहीं है। चक्रवर्ती राजाका पुत्र और दरिद्र कङ्गालका

बालक दोनों ही अरण्यवासी, दयामय, ब्रह्मज्ञाननिष्ठ, विजितेन्द्रिय, सर्वविद्यानिधान, ईश्वरभक्त, सन्तोषी, समदर्शी आचार्यके यज्ञ-धूम-धूसरित नदीतीरस्थ प्राकृतिक शोभासम्पन्न पवित्र आश्रममें सहोदर भाइयोंकी भाँति एक साथ रहकर युवावस्था प्राप्त न होनेतक बड़ी सावधानीसे ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए संयम, विनय और निष्कपट सेवाके बलसे शुद्ध विद्याध्ययन करते थे। आज न वैसे गुरु हैं, न गुरुकुल हैं और न वैसे शिष्य ही हैं!

इस समय जिस स्थूलवादप्रधान जड़-शिक्षाका प्रचार हो रहा है, वह तो भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका नाश करनेवाली ही सिद्ध हो रही है। स्कूल, कालेज और उनके छात्रावासोंका दृश्य देखिये। विद्यासे विनयसम्पन्न होनेकी बात तो दूर रही, आज कालेजोंके छात्र प्रायः गर्वमें भरे हुए मिलते हैं, जहाँ विद्यार्थी-जीवनमें महान् संयमकी आवश्यकता है, वहाँ आज उच्छृङ्खलता, इन्द्रियपरायणता, विलासिता और फैशनका प्राधान्य हो रहा है। सजावट-बनावटकी भरमार है। छात्रावासोंमें यज्ञसामग्रियोंकी जगह आज चश्मा, नेकटाई, रिष्टवाच, दर्पण, कंघी, सेफ्टी रेज़र, साबुन, सेंट और तरह-तरहके जूते मिलते हैं। दिल्लगियाँ उड़ाना, भद्दी जबानें बोलना, परस्पर अनुचित

प्रेमपत्र भुगताना, प्रोफेसरोंके मज़ाक उड़ाना, बड़ोंका असम्मान करना और हर किसीकी निरङ्कुश आलोचना करना उनके लिये मामूली बात है। चरित्र-बल तो बुरी तरह नाश हो रहा है, छात्र-जीवनमें ही तरह-तरहकी बीमारियाँ घेर लेती हैं। स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, आँखोंकी ज्योतिका घट जाना तो आजकलके शिक्षित नवयुवकोंकी आँखोंपर चश्मोंकी संख्या देखनेसे ही सिद्ध है। जो छात्र बहुत संयमी समझे जाते हैं, वे प्रायः नवीन सभ्यता, उन्नति या क्रान्तिके नामपर घरकी बातोंसे घृणा करने और पुरानी नामधारी वस्तुमात्रको अनावश्यक और अवनतिका कारण समझ बैठते हैं। धर्मको अनावश्यक समझना, धर्म-कर्मसे घृणा होना तो इस शिक्षा और शिक्षालयोंके वातावरणका सहज परिणाम है। दुःखकी बात है, पर सत्य है कि आजकल हमारे स्कूल-कालेजोंमें छात्रोंके चरित्र-बलका बुरी तरह नाश होने लगा है। छात्रोंपर असर पड़ता है अध्यापकोंके जीवनका, परन्तु अधिकांश अध्यापक प्रायः उन्हीं कालेजोंसे निकले हुए परिमित अनुभवसम्पन्न जवान छात्र ही होते हैं। उनसे हम इन्द्रियजयी साधनसम्पन्न ऋषि-मुनियोंके चरित्रकी आशा भी नहीं कर सकते!

इसके सिवा आजकलकी शिक्षामें खर्चके मारे तो गृहस्थ तबाह हो जाता है। पुत्रको ग्रेजुएट बनानेमें गरीब पिताको कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, इस बातकी उस बेपरवा मनचले छैले पुत्रको खबर भी नहीं होती। पिता बड़ी उमङ्गसे बुढ़ापेमें सुख मिलनेकी आशासे ऋण करके पुत्रको पढ़ाता है, परन्तु आजकलका पढ़ा-लिखा पुत्र अपने पिता-पितामहोंको अपने मन मूर्ख मानने लगता है, घरका काम करनेमें उसे लज्जा मालूम होती है। किसानका लड़का पढ़-लिखकर खेती करनेमें या दूकानदारका लड़का दूकानदारी करनेमें अपनी शानमें बट्टा लगना समझता है। घरका स्वाभाविक काम छूट जाता है, नौकरी मिलती नहीं, दुर्गति जरूर होती है। आजकल भारतमें जिस बेकारीसे लोग हैरान हैं उसका एक कारण यह शिक्षा भी है। मेहनत-मजदूरी या कारीगरीसे काम चलानेवालों-की अपेक्षा सभ्य पढ़े-लिखे बाबुओंकी अधिक दुर्दशा है।

कालेजोंसे निकले हुए छात्रोंमेंसे कुछको छोड़कर अधिकांश प्रायः तीन श्रेणियोंमें बँटते हैं। वकील, डाक्टर और क्लर्क। यह बात निर्विवाद है कि जितने वकील-डाक्टर बढ़े हैं, उतने ही मुकद्दमे और बीमारोंकी संख्या बढ़ी है। क्लर्कोंकी वृद्धिसे

चरित्रबल नष्ट हो रहा है। नौकरी चाहिये, उम्मेदवारोंकी भरमार है, सस्ते-से-सस्तेमें रहनेको तैयार हैं। इधर महँगी बढ़ी हुई है, कम नौकरीमें पेट भरता नहीं, मजबूरन् चोरियाँ करनी पड़ती हैं— *'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'* यह इस शिक्षाका परिणाम है। खेद तो इसी बातका है कि इसप्रकारकी धर्म-संयम-हीन शिक्षाका भयानक दुष्परिणाम देखते हुए भी हम लोग व्यामोहसे उसीके प्रचारमें अपना पूरा लाभ समझ रहे हैं। यही हमारी विपरीत बुद्धिके लक्षण हैं। मनीषियोंको चाहिये कि वे इस दूषित शिक्षाप्रणालीमें शीघ्र आवश्यक परिवर्तन करानेका प्रयत्न करें।

ऋषिकुल-गुरुकुलोंकी स्थापना प्रायः इसी उद्देश्यसे हुई थी कि वे संस्थाएँ इन दोषोंसे बची रहें, परन्तु अभीतक उन सबकी स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि वातावरण और अध्यापक सभी जगह प्रायः एक-से ही हैं। तथापि स्कूल-कालेजोंकी अपेक्षा इनमें कहीं-कहीं कुछ संयम और धर्मशिक्षा-की ओर भी ध्यान दिया जाता है। कई जगह कम-से-कम अठारह सालकी उम्रतक बालकको अविवाहित रखनेका अनिवार्य नियम है। यदि प्रबन्धकर्ता अच्छे हों तो अन्ततः इन संस्थाओं-में एक सीमातक ब्रह्मचर्य-रक्षाकी स्कूल-कालेजोंकी अपेक्षा कुछ

अधिक सम्भावना की जा सकती है। कम-से-कम इसी लाभकी दृष्टिसे माताओंको मोह छोड़कर अपने बालकोंको ऐसी चुनी हुई संस्थाओंमें अवश्य भेजना चाहिये, जहाँ कम-से-कम अठारह सालकी उम्रतक उनके ब्रह्मचर्यकी वास्तविक रक्षाके साथ ही धार्मिक शिक्षाका समुचित प्रबन्ध हो। माता वही है जो अपने बालकका परलोक सुधारना चाहती है। देवी मदालसाने लोरीमें ही पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया था। बच्चोंका इहलौकिक और पारलौकिक सच्चा हित उनको ब्रह्मचारी, वीर, धीर, संयमी, सत्यवादी और अनन्य ईश्वरभक्त बनानेमें ही है। माताओंको इस ओर पूरा ध्यान देना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं——

पुत्रवती युवती जग सोई। रघुपति-भगत जासु सुत होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। राम-बिमुख सुततें हित-हानी॥

गहनोंका अधिक व्यवहार भी बड़ा हानिकर है। गहनोंकी प्रथाके कारण ही भले घरके गरीब लड़कोंको प्रायः लड़कियाँ नहीं मिलतीं, ऋण करके भी गहने चढ़ाने पड़ते हैं। माताएँ गहनोंका मोह छोड़ दें तो उनका और समाजका दोनोंका भला है। गहनोंके कारण ही घरोंमें प्रायः लड़ाइयाँ हुआ करती हैं। गहना पहननेवाली बहनोंको यह समझ रखना चाहिये कि शोभा

गहने-कपड़ोंमें नहीं है । सच्ची शोभा शील, सदाचार और सादगीमें है जिससे लोक-परलोक दोनों सुधरते हैं । इसी प्रकार विदेशी वस्त्रोंसे देशकी और धर्मकी बड़ी हानि हो रही है । आर्थिक हानि तो है ही, परन्तु लाखों मन जानवरोंकी चर्बी इन कपड़ोंमें लगती है, यही हाल यहाँकी मिलोंके बने कपड़ेका है, इसलिये जहाँतक हो सके, बहनोंको चरखेसे कते हुए सूतके हाथसे बुने कपड़े ही पहनने चाहिये । इनमें चर्बी नहीं लगती, गरीब भाई-बहनोंका कताई-बुनाईसे पेट भरता है । उन्हें पेटके लिये पाप नहीं करना पड़ता, जीव-हिंसा नहीं होती, पवित्रता बनी रहती है, लज्जा नहीं जाती और धर्म बचता है ।

अब दो शब्द शिक्षिता बहनोंकी सेवामें निवेदित हैं, इस शर्तपर कि वे इस अप्रिय सत्यके लिये कृपाकर नाराज न हों । आजकल पढ़ी-लिखी बहनोंमें फैसनकी बीमारी बहुत जोरसे बढ़ रही है, वे ज्यादा गहना पहनना तो पसन्द नहीं करतीं, परन्तु जो एक-दो अँगूठियाँ, चूड़ियाँ या कर्णफूल आदि रखना चाहती हैं, वे जरूर बहुमूल्य चमकदार रत्नोंके चाहती हैं । विलायतीकी जगह देशी वस्त्र या खादी पहनती हैं, परन्तु फैसनकी भावना बढ़ती जाती है । पढ़ी-लिखी बहनें घरके काम-काजमें, रसोई बनाने

आदिमें, पति या सास-ससुरकी सेवा करनेमें प्रायः उपेक्षा करती हैं। इन कामोंको वे हीन और नौकर-नौकरानियोंके करने लायक समझती हैं और लेख लिखने, नाटक, उपन्यास, गल्प आदि पढ़नेमें विशेष रुचि रखती हैं। कई बहनोंको सन्तानके पालन-पोषणमें भी कष्ट मालूम होने लगा है। यों देशी पोशाकके अन्दर धीरे-धीरे विदेशी सभ्यताकी संक्रामक व्याधिका विस्तार हो रहा है। यह बात धीरे-धीरे बहनोंके लेखों, कविताओं, उद्गारों और उनके चरित्रोंसे सिद्ध होने लगी है। बहनोंको सावधान रहना चाहिये। यूरोपका दाम्पत्य-जीवन हमारा आदर्श कदापि नहीं है। वहाँकी ऊपरी चमक-दमक और स्त्री-स्वातन्त्र्यकी मधुर मोहनीमें कभी नहीं भूलना चाहिये। यूरोपकी स्त्रियाँ आजकल सन्तानोत्पादन और सन्तानके लालन-पालन तकको भाररूप समझकर मातृत्वका नाश करनेपर भी उतारू हो चली हैं। किसी वैराग्यसे नहीं, बे-हद आरामतलबी और अनुचित विलासप्रियतासे! यूरोपका आदर्श हिन्दू-ललनाओंके लिये बड़ा ही घातक है। सुधार, संस्कृति, शिक्षा, सभ्यता, उन्नति, प्रगति, या क्रान्ति आदिके नामपर कहीं सर्वस्व-नाशकारी *'विषकुम्भं पयोमुखम्'* का प्रयोग न हो जाय! सावधान!

वास्तवमें नश्वर शरीरको सजाकर सुन्दर बननेकी लालसा तो हास्यास्पद ही है। इसमें कौन-सी वस्तु ऐसी है जो सुन्दर हो? घृणित वस्तुओंसे बने हुए इस ढाँचेको सजाना प्रमादके सिवा और कुछ भी नहीं है। शरीरकी सजावटकी भावना इसी वासनाके कारण होती है कि दूसरोंमें 'मैं अच्छा दीखूँ।' इस भावनासे सुन्दर गहने-कपड़े पहनने-न-पहननेका उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना मनका। सुन्दरता किसी वस्तुमें नहीं है, वह है अपने मनकी भावनामें, कोई बहन खूब गहनोंसे लदकर बाहर निकलनेमें अपनी शोभा समझती है, तो कोई दूसरी तरहकी बाहरी टीपटापमें समझती है। अतएव बहनोंको मनसे विलासिता, फैसनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

इसके सिवा जिस देशमें करोड़ों अपने ही जैसे शरीरधारी भाई-बहनोंको पेटभर अनाज और लाज रखनेके लिये चार हाथ कपड़ा नहीं मिलता, उस देशके लोगोंको वास्तवमें गहने-कपड़ोंसे सज्जित होनेका धर्मतः अधिकार ही क्या है? शरीरको सुन्दर बनाने और दिखानेकी भावनाको हटाकर जगत्की परिमित और जहाँ-तहाँ बिखरी हुई अल्प सुन्दरताका मोह छोड़कर उस सुन्दरताकी खान सर्वव्यापी, सबके अधिष्ठान अतुलित सुन्दर

परमात्माके प्रति मन लगाना चाहिये, जिसकी सुन्दरताका एक परमाणु पाकर जगत्के असंख्य नर-नारी सौन्दर्यके मदमें मतवाले हो रहे हैं—जिस प्रेमसिन्धुकी एक बूँदसे जगत्में, माता-पिताका सन्तानमें, गुरुका शिष्यमें, स्त्रीका स्वामीमें, स्वामीका स्त्रीमें, मित्रका मित्रमें, भ्रमरका गन्धमें, चकोरका चन्द्रमामें, चातकका मेघमें, कमलका सूर्यमें, इन नाना रूपों और नामोंमें बँटकर भी जो प्रेम नित्य नया बन रहा है, अनादि कालसे अबतक चला आ रहा है, तथापि यह प्रेम कभी पुराना नहीं होता।

हम सबको उस परमात्माकी ओर लगनेकी ही चेष्टा करनी चाहिये। एक दिन इस शरीरको अवश्य छोड़ना होगा, उस समय सब नाते छूट जायँगे। सबसे सम्बन्ध टूट जायगा। जगत्का सम्बन्ध अल्प और अनित्य है, वास्तवमें नाटकवत् है। यहाँ तो बड़ी सावधानीसे रहना चाहिये। जैसे नाटकका पात्र नाटककी किसी भी वस्तुको, यहाँतक कि पोशाकको भी अपनी न समझकर रङ्गमञ्चपर अपने स्वांगके अनुसार सावधानीसे अभिनय करता है, जैसे चतुर नमकहलाल और ईमानदार नौकर सचेत और धर्म-

पर डटा रहकर मालिकका काम करता है, उसी प्रकार परमात्माके नाट्यमञ्च इस जगत्‌में हम लोगोंको इस जगन्नाटकके उस एकमात्र स्वामी और सूत्रधार प्रभुकी आज्ञानुसार उसीके लिये, उसीकी शक्तिके सहारे, उसीके गुणोंका स्मरण करते हुए, अपना-अपना कर्तव्यकर्म बड़ी सावधानीसे निर्लेप रहकर करना चाहिये। जिसके जिम्मे जो काम हो वह वही करे, पर करे प्रभुके लिये और प्रभुका समझकर, किसी भी वस्तुपर अपनी सत्ता न समझे, यहाँतक कि अपनेपर भी अपनी सत्ता नहीं! भगवान्‌की इस आज्ञाको सदा स्मरण रखना चाहिये—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

श्रीरुक्मिणीका अनन्य प्रेम

श्रीमद्भागवतमें अनिर्वचनीय प्रेमके दो चरित्र बड़े ही पुनीत और अलौकिक हैं। प्रथम प्रेमकी जीवित प्रतिमा प्रातःस्मरणीया गोप-बालाओंका और दूसरा भगवती श्रीरुक्मिणीजीका ! विदर्भदेश-के राजा भीष्मकके रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली नामक पाँच पुत्र और रुक्मिणी नामक सबसे छोटी एक कन्या थी। रुक्मिणीजी साक्षात् रमा थीं, भगवान्में उनका चित्त तो स्वाभाविक ही अनुरक्त था परन्तु लीलासे नारदादि तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्य, रूप, वीर्य, गुण, शोभा और वैभवका अनुपम वर्णन सुनकर अपने मनमें दृढ़ निश्चय कर लिया कि श्रीकृष्ण ही मेरे पति हैं। आरम्भमें साधक-को अपना ध्येय निश्चित करनेकी ही आवश्यकता होती है। ध्येय निश्चित होनेके पश्चात् उसकी प्राप्तिके लिये साधन किये जाते

हैं। जिसका लक्ष्य ही स्थिर नहीं, वह निशाना क्या मारेगा ? भगवती रुक्मिणीने दृढ़ प्रत्यय कर लिया कि जो कुछ भी हो, चाहे जितना लोभ या भय आवे, मुझे तो श्रीकृष्णको ही अपने जीवनाधार-रूपमें प्राप्त करना है। भक्त भगवान्‌को जैसे भजता है भगवान् भी भक्तको वैसे ही भजते हैं। श्रीरुक्मिणीने जब श्री-कृष्णका माहात्म्य सुनकर उनको पतिरूपसे वरण किया तो उधर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भी रुक्मिणीको बुद्धि, लक्षण, उदारता, रूप, शील और गुणोंकी खान समझकर—योग्य अधिकारी मानकर—पत्नीरूपसे ग्रहण करनेका निश्चय कर लिया। श्रीरुक्मिणीके बड़े भाई रुक्मी भगवान् श्रीकृष्णसे द्वेष रखते थे, उन्होंने अपने पिता, माता और भाइयोंकी इच्छाके विपरीत रुक्मिणीजीका विवाह श्रीकृष्णसे न कर शिशुपालसे करना चाहा और उन्हींकी इच्छा-नुसार सम्बन्ध पक्का भी हो गया। जब यह समाचार श्रीरुक्मिणी-जीको मिला तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ, उन्होंने अपना जीवन पहिलेसे ही भगवान्‌पर न्योछावर कर दिया था। अब इस विपत्ति-में पड़कर उन्होंने अपने मनकी दशा श्रीकृष्णके प्रति निवेदन करनेके अभिप्रायसे एक छोटा-सा पत्र लिखा और उसे एक विश्वासी वृद्ध ब्राह्मणके हाथ द्वारिका भेज दिया। पत्र क्या था,

प्रेम-समुद्रके कुछ अमूल्य और अनुपम रत्नोंकी एक मञ्जूषा थी। थोड़ेसे शब्दोंमें अपना हृदय खोलकर रख दिया गया था। नवधा भक्तिके अन्तिम सोपान आत्मनिवेदनका सुन्दर-स्वरूप उसके अन्दर था। ब्राह्मण देवता द्वारिका पहुँचकर श्रीकृष्णचन्द्रके द्वारपर उपस्थित हुए। द्वारपाल उन्हें अन्दर ले गया। भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मण देवताको देखते ही सिंहासनसे उतरकर उनकी अभ्यर्थना की। अपने हाथों आसन दिया और आदरपूर्वक बैठाकर भली भाँति उनकी पूजा की। ब्राह्मणके भोजन विश्रामादि कर चुकनेपर भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास जाकर बैठ गये और अपने कोमल कर-कमलोंसे उनके पैर दबाते-दबाते धीर भावसे कुशल-समाचार पूछनेके बाद ब्राह्मणसे बोले—'महाराज! मैं उन सब ब्राह्मणोंको बारम्बार मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ जो सदा सन्तुष्ट रहते हैं, जो दरिद्र होनेपर भी अपना जीवन सुखसे बिताते हैं, जो साधु हैं, प्राणीमात्रके परम बन्धु हैं और जो निरभिमानी तथा शान्त हैं। ब्रह्मन्! आप अपने राजाके राज्यमें सुखसे तो रहते हैं? जिस राजाके राज्यमें प्रजा सुखी है वही राजा मुझको प्रिय है।' इसप्रकार कुशल-प्रश्नके बहानेसे भगवान्ने ब्राह्मण और क्षत्रियोंके उस धर्मको बतला दिया जिससे वे

भगवान्‌के प्रियपात्र वन सकते हैं। ब्राह्मणने सारी कथा संक्षेपमें सुनाकर वह प्रेम-पत्रिका भगवान्‌को दिखलायी जिसपर श्रीरुक्मिणी-के द्वारा अपनी प्रेम-मुद्रिकाकी मुहर लगायी हुई थी। भगवान्‌की आज्ञा पाकर ब्राह्मणने पत्र पढ़ सुनाया। पत्रमें लिखा था—

'हे त्रिभुवनकी सुन्दरताके समुद्र! हे अच्युत! जो कानोंके छिद्रोंद्वारा हृदयमें प्रवेश करके (तीनों प्रकारके) तापोंको शान्त करते हैं आपके वे सव अनुपम गुण और नेत्रधारियोंकी दृष्टिका जो परम लाभ है ऐसे आपके मनोमोहन स्वरूपकी महिमा सुनकर मेरा चित्त आपपर आसक्त हो गया है, लोक-लज्जाका वन्धन भी उस (प्रेमके प्रवाह) को नहीं रोक सकता। हे मुकुन्द! ऐसी कौन कुलवती, गुणवती और वुद्धिमती कामिनी है जो आप-जैसे अतुलनीय कुल, शील, स्वरूप, विद्या, अवस्था, सम्पत्ति और प्रभावसम्पन्न पुरुषको विवाह-समय उपस्थित होनेपर पति-रूपसे वरनेकी अभिलाषा नहीं करेगी? हे नरश्रेष्ठ! आप ही तो मनुष्योंके मनको रमानेवाले हैं। अतएव हे विभो! मैंने आपको पति मानकर आत्म-समर्पण कर दिया है, अतएव आप यहाँ अवश्य पधारकर मुझे अपनी धर्मपत्नी वनाइये। हे कमलनयन! मैं अव आपकी हो चुकी। क्या सियार कभी

सिंहके भागको हर ले जा सकता है ? मैं चाहती हूँ आप वीर-श्रेष्ठके भाग—मुझ—को सियार शिशुपाल यहाँ आकर स्पर्श भी न कर सके। यदि मैंने पूर्त (कुँआ, बावड़ी आदि बनवाना), इष्ट (अग्निहोत्रादि), दान, नियम, व्रत एवं देवता, ब्राह्मण और गुरुओंके पूजनद्वारा भगवान्‌की कुछ भी आराधना की है तो भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आकर मेरा पाणिग्रहण करें और दमघोषनन्दन (शिशुपाल) आदि दूसरे राजा मेरे हाथ भी न लगा सकें। हे अजित! परसों विवाहकी तिथि है, अतएव आप एक दिन पहले ही गुप्त रूपसे पधारिये, फिर पीछेसे आये हुए अपने सेनापतियोंको साथ लेकर शिशुपाल, जरासन्धादिकी सेनाको नष्ट-भ्रष्टकर बलपूर्वक मुझे ग्रहण कीजिये, यही मेरी विनय है। यदि आप यह कहें कि तुम तो अन्तःपुरमें रहती हो, तुम्हारे बन्धुओंको मारे बिना मैं किस तरह तुम्हारे साथ विवाह कर सकता हूँ या तुम्हें हरकर ले जा सकता हूँ ? तो मैं आपको उसका उपाय बताती हूँ, हमारे कुलकी सनातन-रीतिके अनुसार कन्या पहले दिन कुलदेवी भवानीकी पूजा करनेके लिये बाहर मन्दिरमें जाया करती है। वहाँ मुझे हरण करना सुलभ है।' इतना लिखनेके पश्चात् अन्तमें देवी रुक्मिणी लिखती हैं—

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजः स्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं,
जह्यामसून् व्रतकृशान् शत जन्मभिः स्यात् ॥
(श्रीमद्भागवत)

'हे कमललोचन ! उमापति महादेव तथा उनके समान दूसरे ब्रह्मादि महान् लोग, अपने अन्तःकरणका अज्ञान मिटानेके लिये आपके जिस चरण-रजके कणोंसे स्नान करनेकी प्रार्थना करते रहते हैं, यदि मैं उस प्रसादको नहीं पा सकी तो निश्चय समझियेगा कि मैं व्रत-उपवासादिके द्वारा शरीरको सुखाकर इन व्याकुल प्राणोंको त्याग दूँगी। (यों बारम्बार करते रहनेपर अगले) सौ जन्मोंमें तो आपका प्रसाद प्राप्त होगा ही।'

कुछ लोग कहते हैं कि इस पत्रमें कौन-सी बड़ी बात है? किसी पुरुषके रूप-गुणपर मुग्ध होकर घरवालोंकी इच्छाके विरुद्ध उसे प्रेमपत्र लिखना कौन-सी आदर्श बात है? परन्तु ऐसा कहनेवाले सज्जन भूलते हैं। श्रीरुक्मिणीजीने किसी पार्थिव रूप-गुणपर मुग्ध होकर यह पत्र नहीं लिखा, पत्रके अन्तिम श्लोकसे स्पष्ट सिद्ध है कि रुक्मिणी किसी राजा या बलवान् कृष्णको नहीं

जानती और चाहती थी। रुक्मिणी जानती थी देवदेव महादेवादि-द्वारा वन्दित-चरण कमल-लोचन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको ! रुक्मिणीका त्याग और निश्चय देखिये ! इष्ट, पूर्त, दान, नियम, व्रत और देवता, गुरु-ब्राह्मणोंकी पूजा आदि सबका फल रुक्मिणी केवल एक ही चाहती है। यही तो भक्तका निष्काम कर्म है। भक्तके द्वारा दान, यज्ञ, तप आदि सभी कर्म किये जाते हैं परन्तु किस लिये ? धन, जन, भोग, स्वर्गादिके लिये नहीं, केवल भगवान्‌को पानेके लिये। घर, द्वार, परिवार और भाई-बन्धुका ममत्व त्यागकर इसी प्रकार तो भगवत्प्राप्तिके लिये भक्तको लोक-लज्जा और मर्यादाका बाँध तोड़कर आत्मसमर्पण करना पड़ता है। इतनेपर भी यदि भगवान् नहीं मिलते तो भक्त ऊबता नहीं। उसका निश्चय है कि 'आज नहीं तो क्या है, कभी सौ जन्मोंमें तो उनका प्रसाद प्राप्त होगा ही।' जहाँ इतना विशुद्ध और अनन्य प्रेम होता है वहाँ भगवान् आये विना कभी रह नहीं सकते। अतएव रुक्मिणीजीका पत्र सुनते ही भगवान्‌ने 'भक्तकी भीर' हरनेके लिये निश्चय कर लिया और आप ब्राह्मणसे कहने लगे—'भगवन् ! जैसे रुक्मिणीका चित्त मुझमें आसक्त है वैसे ही मेरा भी मन उसीमें लग रहा है। मुझे तो रातको नींद भी नहीं

आती..........मैंने निश्चय कर लिया है कि युद्धमें अधम क्षत्रियोंकी सेनाका मन्थनकर उसके बीचसे, काष्ठके भीतरसे अग्नि-शिखाके समान, मुझको एकान्त-भावसे भजनेवाली अनिन्दिताङ्गी राजकुमारी रुक्मिणीको ले आऊँगा।' वही भक्त सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है जो अपने अन्तरके प्रेमकी प्रबल टानसे भगवान्‌के चित्तमें उससे मिलनेके लिये अत्यन्त व्याकुलता उत्पन्न कर दे। इस प्रकारकी अवस्थामें भगवान् भक्तसे मिले विना एक क्षण भी सुखकी नींद नहीं सो सकते। जैसे भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌के विरहमें तारे गिनता हुआ रात विताता है वैसे ही भगवान् भी उसीके ध्यानमें जागा करते हैं। ऐसी स्थिति हो जानेपर प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। भगवान् दौड़ते हैं इस प्रकारके भक्तको सादर ग्रहण करनेके लिये!

भगवान्‌की रुख देखकर चतुर सारथी दारुक उसी क्षण शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक चारों घोड़े जोतकर रथ ले आया और भगवान्‌ने उसपर सवार हो रथ बहुत शीघ्र हाँकनेकी आज्ञा देकर विदर्भ-देशके कुंडिनपुरको प्रस्थान किया। ब्राह्मण देवता तो साथ थे ही।

श्रीरुक्मिणीजीने सारी रात जागते बितायी। सूर्योदय होनेपर आया, ब्राह्मण नहीं लौटे, रुक्मिणीकी विरह-व्यथा उत्तरोत्तर बढ़ रही थी, वह मनमें इस प्रकार चिन्ता करने लगीं कि, 'अहो! रात बीत गयी, सबेरे मुझ अभागिनीके विवाहका दिन है। कमललोचन भगवान् श्रीकृष्ण अबतक नहीं आये, न ब्राह्मण देवता ही लौटे! क्या उन अनिन्दितात्मा श्रीकृष्णने मुझमें कहीं कोई निन्दनीय बात देखी है? क्या इसी लिये वे मेरे पाणिग्रहणका उद्योग करके नहीं पधारते? क्या भगवान् विधाता और महादेव मुझ अभागिनीके प्रतिकूल हैं? क्या भगवती गिरिजा रुद्राणी गौरी भी मेरे अनुकूल नहीं हैं?' इस प्रकार चिन्ता करती हुई श्रीरुक्मिणीजी, जिनका चित्त केवल गोविन्दकी चिन्तासे ही भरा हुआ है, जिनके नेत्रोंसे आँसू बह रहे हैं, अपने उन नेत्रोंको मूँदकर भगवान् हरिका ध्यान करने लगीं!

प्रेमके उदय होनेपर एक क्षणका वियोग भी भक्तके लिये असह्य हो उठता है। परन्तु उस वियोगकी विकट दशामें वह अपने प्रियतम भगवान् पर कभी नाराज नहीं होता। उस समय वह अपना अन्तर टटोलता है, वह सोचता है कि प्रियतमके पधारनेमें

क्यों विलम्ब हो रहा है ? क्या मेरे हृदय-सिंहासनके सजानेमें कोई त्रुटि रह गयी है ? क्या स्वागतकी तैयारीमें कोई कसर है ? इस अवस्थामें भक्त बड़ी सावधानीसे अपने हृदयके गंभीरतम प्रदेशमें घुसकर चोरकी तरह उसमें छिपे हुए संसार-संस्कारके लेशको भी निकाल देना चाहता है; उसे यह दृढ़ विश्वास रहता है कि मेरी पूरी तैयारी होनेपर तो प्रियतम आये बिना कभी रह नहीं सकते; कहीं-न-कहीं मेरी तैयारीमें ही दोष है, रुक्मिणीजी इसी लिये चिन्ता करती हैं कि श्रीकृष्णने क्या मुझमें कोई निन्दनीय बात देखी है जो प्रेममार्गके प्रतिकूल हो ? जब व्याकुलता और बढ़ती है, धैर्य छूटने लगता है, तब वह भक्त सभी उपायोंको काममें लाता है ऐसे समय ही उसे देवी-देवताओंको स्मरण होता है। जब उनसे भी आश्वासन नहीं मिलता तब हृदय भर आता है। आँखें छल-छल करने लगती हैं, रोमाञ्च हो आता है, चित्त सर्वथा निर्विषय होकर अपने प्रियतमकी एकान्त और अनन्य चिन्ताके विस्तृत सागरमें तरङ्गकी भाँति तल्लीन और एकरस बन जाता है। बस, यही भक्त और भगवान्‌के मिलनका शुभ समय होता है और इसी

क्षणमें भक्त अपने भगवान्‌को पाकर सन्तुष्ट, तृप्त, पूर्णकाम और अकाम बनकर तद्रूप हो जाता है।

रुक्मिणीजीके भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न होते ही उनकी बाँह, उरु, भुजा और नेत्र आदि अङ्ग भावी प्रियकी सूचना देते हुए फड़क उठे और उसी क्षण भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनका प्रिय समाचार लेकर वही वृद्ध ब्राह्मण आ पहुँचे। भगवान्‌की आगमन-वार्ता सुनकर रुक्मिणीजीको जो आनन्द हुआ वह वर्णनातीत है। श्रीकृष्ण और बलदेवका आगमन सुनकर रुक्मिणीके पिता राजा भीष्मकने उनके स्वागत और अतिथि-सत्कारका पूरा प्रबन्ध किया। भगवान्‌की भुवनमोहिनी रूपराशिको निरखकर नगरके नर-नारियोंका चित्त उसीमें रम गया और सभी प्रेमके आँसू बहाते हुए कहने लगे कि यदि हमने कभी कुछ भी सुकृत किया हो तो त्रिलोकके विधाता अच्युत भगवान् कुछ ऐसा करें कि ये मनोमोहन अनूपरूप-शिरोमणि श्रीकृष्ण ही रुक्मिणीका पाणिग्रहण करें। श्रीरुक्मिणीजी अम्बिकाकी पूजाके लिये गयीं, वहाँ देवीका पूजन कर बड़ी-बूढ़ियोंसे आशीर्वाद प्राप्तकर बाहर आकर अपने रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि इतनेहीमें माधव श्रीकृष्णचन्द्रने आकर शत्रुओंकी सेनाके सामने ही गरुड़चिह्नयुक्त

अपने रथपर तुरन्त ही रुक्मिणीको चढ़ा ली और चल दिये। लोगोंने पीछा किया परन्तु किसीकी कुछ भी नहीं चली, भगवान् और बलदेवजी शत्रुओंका दर्प दलनकर देवी रुक्मिणीसहित द्वारकामें आ पहुँचे और वहाँ विधिपूर्वक उनका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। श्रीकृष्णको रुक्मिणीसे (जो श्रीलक्ष्मीजीका अवतार हैं) मिलते देखकर पुरवासियोंको परम आह्लाद हुआ। भक्त और भगवान्के मिलन-प्रसङ्गमें किसे आनन्द नहीं होता ?

अनन्यगति श्रीरुक्मिणीजी निरन्तर भगवान्की सेवामें रत रहतीं, एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण महाराजने प्रसन्नतापूर्वक मन्द-मन्द मुसकाते हुए रुक्मिणीसे कुछ ऐसी रहस्ययुक्त बातें कहीं, जिनको सुनकर रुक्मिणीजी थोड़ी देरके लिये व्याकुल हो गयीं। अपना समस्त ऐश्वर्य सौंपकर भी भगवान् समय-समयपर भक्तकी यों परीक्षा किया करते हैं, वह इसीलिये कि भक्त कहीं ऐश्वर्यके मदमें मत्त होकर प्रेमकी अनिर्वचनीय स्थितिसे च्युत न हो जाय। यद्यपि श्रीरुक्मिणीजीके लिये ऐसी कोई आशंका नहीं थी परन्तु भगवान्ने अपने भक्तोंका महत्त्व बढ़ाने और जगत्को सच्चे प्रेमकी अनुपम शिक्षा देनेके लिये रुक्मिणीजीकी वाणीसे भगवत्प्रेमका तत्त्व कहलाना चाहा। और इसी लिये उनसे रहस्ययुक्त वचन कहे।

भगवान् बोले—'हे राजकुमारी! लोकपालोंके समान धनसम्पन्न, महानुभाव, श्रीमान् तथा रूप और उदारतासे युक्त महान् बली नरपति तुमसे विवाह करना चाहते थे। कामोन्मत्त शिशुपाल तुम्हें व्याहनेके लिये बरात लेकर आ पहुँचा था; तुम्हारे भ्राता और पिता भी तुम्हारा विवाह शिशुपालके साथ करनेका निश्चय कर चुके थे, तो भी तुमने सब प्रकारसे अपने योग्य उन राजकुमारों-को छोड़कर, जो किसी बातमें तुम्हारे समान नहीं है ऐसे मुझ-जैसेको अपना पति क्यों बनाया? हे सुभ्रु! तुम जानती हो, हम राजाओंके भयसे समुद्र-किनारे आ बसे हैं, क्योंकि हमने बलवानोंसे वैर बाँध रखा है, फिर हम राज्यासनके अधिकारी भी नहीं हैं। जिनका आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आ सकता, जो स्त्रियोंके वशमें नहीं रहते, ऐसे हम-सरीखे पुरुषोंकी पदवीका अनुसरण करनेवाली स्त्रियाँ प्रायः कष्ट और दुःख ही उठाया करती हैं। हे सुमध्यमे! हमलोग स्वयं निष्किञ्चन (धन-सम्पत्ति-रहित) हैं और धन-सम्पत्ति-रहित दरिद्र ही हमसे प्रेम करते हैं। धनवान् लोग प्रायः हमको नहीं भजते। जो लोग धन, जाति, ऐश्वर्य, आकार और अवस्थामें परस्पर समान हों, उन्हींसे मित्रता और विवाह करना शोभा देता है। उत्तम और अधमोंमें

विवाह या मित्रता कभी उचित नहीं होती। हे रुक्मिणी! तुम दूरदर्शिनी नहीं हो, इसीसे बिना जाने तुमने मुझ-जैसे गुणहीनको नारदादिके मुखसे प्रशंसा सुनकर वर लिया, वास्तवमें तुमको धोखा हुआ। यदि तुम चाहो तो अब भी जिसके सङ्गसे तुम इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त कर सको, ऐसे किसी अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो। तुम्हारा हरण तो हमने शिशुपाल, दन्तवक्र आदि घमण्डी राजा और हमसे वैरभाव रखनेवाले तुम्हारे भाई रुक्मीका दर्प-दलन करनेके लिये किया था, क्योंकि बुरे लोगोंका तेज नाश करना ही हमारा कर्त्तव्य है।' इतना कहकर अन्तमें भगवान् बोले—

> उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
> आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः॥
>
> (श्रीमद्भागवत)

'हे राजकुमारी! हम आत्मलाभसे ही पूर्ण होनेके कारण स्त्री, पुत्र और धनादिकी कामना नहीं रखते। हम उदासीन हैं, देह और गृहमें हमारी आसक्ति नहीं है। जैसे दीपककी ज्योति केवल प्रकाश करके साक्षीमात्र रहती है वैसे ही हम समस्त क्रियाओंके केवल साक्षीमात्र हैं।'

भगवान्‌के इस रहस्यपूर्ण कथनपर हम क्या कहें? भगवान्‌ने इस बहाने भक्तको अपना वास्तविक स्वरूप और भक्तका कर्त्तव्य और उसके लक्षण बतला दिये। भगवती रुक्मिणीको (तुम ऐसे किसी अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो) इन शब्दोंसे बड़ी मर्मवेदना हुई, वे मस्तक अवनत करके रोने लगीं, अश्रुधारासे उनका शरीर भींग गया। दारुण मनोवेदनासे कण्ठ रुक गया और अन्तमें वे अचेत होकर गिर पड़ीं। भगवान् रुक्मिणीकी इस प्रेम-दशाको देख मुग्ध होकर तुरन्त पलङ्गसे उठे और चतुर्भुज होकर दो हाथोंसे रुक्मिणीको उठा लिया और दो करकमलोंसे उनके बिखरे हुए केशोंको सँवारकर आँसू पोंछने लगे। रुक्मिणीजीको चेत हुआ तब भगवान् बोले—'राजकुमारी! मैं तो हँसी करता था, तुम्हारे चरित्रको मैं भलीभाँति जानता हूँ, तुम्हारे मुखसे प्रणयकोपके प्रकट करनेवाली बातें सुननेके लिये ही मैंने इतनी बातें कही थीं।'

भगवान् भक्तकी परीक्षा तो बड़ी कठिन लिया करते हैं, परन्तु फिर तुरन्त सम्हाल भी लेते हैं। भगवान्‌ने रुक्मिणीको बहुत समझाकर धैर्य बँधाया, तब भगवान्‌के चरणकमलोंकी नित्य अनुरागिणी देवी रुक्मिणी बड़े मधुर शब्दोंमें भगवान्‌से कहने

र्मी–'हे कमलनयन ! आपने जो ऐसा कहा कि 'मैं तुम्हारे समान नहीं था, तुमने क्यों मेरे साथ विवाह किया ?' सो आपका कथन सर्वथा सत्य है, मैं अवश्य ही आपके योग्य नहीं हूँ । कहाँ ब्रह्मादि तीनों देवोंके या तीनों गुणोंके नियन्ता दिव्य शक्तिसम्पन्न आप साक्षात् भगवान् और कहाँ मैं अज्ञानी तथा सकाम पुरुषोंके द्वारा पूजी जानेवाली गुणमयी प्रकृति ! हे प्रभो ! आपका यह कहना कि 'हम राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं' सर्वथा सत्य है, क्योंकि शब्दादि गुण ही राजमान (प्रकाश पानेवाले) होनेके कारण 'राजा' हैं, उनके भयसे ही मानो समुद्रके सदृश अगाध विषय-शून्य भक्तोंके हृदयदेशमें आप चैतन्यघन आत्मा-रूपसे प्रकाशित हैं । आपका यह कहना भी ठीक है कि 'हमने बलवानोंसे वैर बाँध रक्खा है और हम राज्यासनके अधिकारी नहीं हैं ।' बहिर्मुख हुई प्रबल इन्द्रियोंके साथ अथवा जिनकी प्रबल इन्द्रियाँ विषयोंमें आसक्त हैं उनसे कभी आपको प्रीति नहीं है । हे नाथ ! राज्यासन तो घोर अविवेकरूप है, मनुष्य राजपदको पाकर ज्ञानशून्य कर्तव्यविमूढ़ होकर अन्धा-सा बन जाता है' ऐसे राजपदको तो आपके सेवकोंने ही त्याग दिया है फिर आपकी तो बात ही क्या है ? हे भगवन् !

'आपने कहा कि हमारे आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आ सकते' सो सत्य है, आपके चरणकमलकी मकरन्दका सेवन करनेवाले मुनियोंके ही आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आते, पशु-समान अज्ञानी मनुष्य उनकी तर्कना भी नहीं कर सकते। जब आपके अनुगामी भक्तोंका चरित्र ही इतना अचिन्त्य और अलौकिक है तब आप—जो साक्षात् ईश्वर हैं, उन–के चरित्रका दुर्बोध या अलौकिक होना कोई आश्चर्य नहीं। आपने कहा कि 'हम निष्किञ्चन हैं, निष्किञ्चन ही हमसे प्रेम करते हैं' सो हे स्वामी! जिन ब्रह्मादि देवताओंकी सभी पूजा करते हैं वे भी जब सादर आपको पूजते हैं तब आप निष्किञ्चन तो नहीं हैं परन्तु एक तरहसे आप निष्किञ्चन ही हैं, क्योंकि आपसे भिन्न कुछ है ही नहीं! जो लोग धन-सम्पत्तिके मदसे अन्धे हो रहे हैं और केवल अपने शरीरके पालन-पोषणमें ही रत हैं वे आप कालरूपको नहीं जानते। आप पूजनीयोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, जगत्-पूज्य ब्रह्मादि आपको इष्टदेव मानकर पूजते हैं। उनके आप प्रिय हैं और वे आपके प्रिय हैं। आप सम्पूर्ण पुरुषार्थ और परमानन्दरूप हैं, आपको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग सब वस्तुओंका त्याग कर देते हैं। हे विभो! ऐसे श्रेष्ठ

बुद्धिवाले पुरुषोंसे ही आपका सेव्य-सेवक-सम्बन्ध उचित है; स्त्री-पुरुष-रूप सम्बन्ध योग्य नहीं है। कारण, इस सम्बन्धमें आसक्तिके कारण प्राप्त हुए सुख-दुःखोंसे व्याकुल होना पड़ता है····इसलिये आपका यह कहना कि 'समान लोगोंमें ही मित्रता और विवाह होना चाहिये' सो ठीक ही है। आपने कहा कि 'नारदादिके मुखसे प्रशंसा सुनकर मुझे वर लिया' सो भगवन्! ऐसे सर्वत्यागी मुनिगण ही आपके प्रभावको जानते और कहते हैं; आप जगत्‌के आत्मा हैं और भक्तोंको आत्मस्वरूप प्रदान करते हैं, यह समझकर ही मैंने आपको वरा है। आपने कहा कि 'तुम दूरदर्शिनी नहीं हो' सो प्रभो! आपकी भृकुटियोंके बीचसे उत्पन्न कालके वेगसे जिनके समस्त विषय-भोग नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ब्रह्मादि देवताओंको भी मैंने पति बनाना उचित और श्रेष्ठ नहीं समझा तो फिर शिशुपालादि तुच्छ लोगोंकी बात ही क्या है! हे गदाग्रज! हे प्रभो! सिंह जैसे अपनी गर्जनासे पशुपालकोंको भगाकर अपना आहार ले आता है वैसे ही आप शार्ङ्ग-धनुषके शब्दसे राजाओंको भगाकर अपना भाग, जो मैं हूँ, उसे हर लाये हैं, ऐसे आप उन राजाओंके भयसे समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं—यह कहना ठीक नहीं है। आपने

कहा कि 'ऐसे पुरुषोंकी पदवीका अनुसरण करनेवाली स्त्रियाँ दुःख उठाया करती हैं' सो हे कमललोचन ! अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि राजाओंके सिरमौर महाराजाओंने आपके भजनकी इच्छासे चक्रवर्ती राज्य त्याग दिया और आपकी पदवी पानेके लिये वनोंमें जाकर तपमें लग गये। क्या उनको कोई कष्ट मिला ? क्या वे आपको नहीं प्राप्त हुए ? वे तो सब कष्टोंसे पार होकर आपकी चरण-पदवी प्राप्तकर आपके परमानन्द-स्वरूपमें लीन हो गये हैं। भगवन् ! आप सब गुणोंकी खान हैं, आपके चरणकमलोंकी मकरन्द—सुगन्धका वर्णन साधुगणोंद्वारा किया गया है, लक्ष्मी सदा उसका सेवन करती हैं, भक्तजन उससे मोक्ष पाते हैं, ऐसे चरणकमलोंके मकरन्दकी सुगन्ध पाकर अपने प्रयोजनको विवेकबुद्धिसे देखनेवाली कौन ऐसी स्त्री होगी जो आपको छोड़कर किसी मरणशील और कालके भयसे सदा शङ्कित दूसरे पार्थिव पुरुषका आश्रय लेगी ? अतएव आपने जो यह कहा कि 'दूसरा पुरुष ढूँढ़ सकती हो' सो ठीक नहीं है। आप जगत्के अधिपति और सबके आत्मा हैं। इस लोक और परलोकमें सब अभिलाषाएँ पूरी करनेवाले हैं, मैंने योग्य समझकर ही आपको पति बनाया है। मेरी यही

प्रार्थना है कि मैं देवता, पशु, पक्षी आदिकी किसी भी योनिमें भ्रमण करूँ परन्तु सर्वत्र आपहीके चरणोंकी शरणमें रहूँ। नाथ! जो लोग आपको भजते हैं, आप समदर्शी और निःस्पृह होते हुए भी उनको भजते हैं और आपके भजनसे ही इस असार संसारसे मुक्ति मिलती है। हे अच्युत! हे शत्रुनाशन! जो स्त्रियोंके घरोंमें गधेके समान बोझा ढोते हैं, बैलकी तरह नित्य गृहस्थीके कामोंमें जुते रहकर क्लेश भोगते हैं, कुत्तेके समान जिनका तिरस्कार होता है, बिलावकी तरह जो दीन बने हुए गुलामोंकी भाँति स्त्री आदिकी सेवामें लगे रहते हैं ऐसे शिशुपालादि राजा उसी (अभागिनी) स्त्रीके पति हों जिसके कानोंमें शिव-ब्रह्मादिकी सभाओंमें आदर पानेवाली आपकी पवित्र कथाओंने प्रवेश नहीं किया हो। हे स्वामी! जिसने आपके चरणारविन्दकी मकरन्द-सुगन्धको कभी नहीं पाया अर्थात् जिसने आपके चरणोंमें मन लगानेका आनन्द कभी नहीं पाया, वही मूढ़ स्त्री बाहर त्वचा, दाढ़ी, मूँछ, रोम, नख और केशोंसे ढके हुए तथा भीतर मांस, हड्डी, रुधिर, कृमि, विष्ठा, कफ, पित्त और वातसे भरे हुए जीवन्मृत (जीते ही मुर्देके समान) पुरुषको पतिभावसे भजेगी। हे कमलनयन! आपने कहा कि 'हम उदासीन हैं, आत्मत्यागसे

पूर्ण हैं' सो सत्य है। आप निजानन्द-स्वरूपमें रमण करनेके कारण मुझपर अत्यन्त अधिक दृष्टि नहीं रखते तथापि मेरी यही प्रार्थना है कि आपके चरणोंमें मेरा चित्त सदा लगा रहे। आप इस जगत्‌की वृद्धिके लिये उत्कृष्ट रजोगुणको स्वीकार करते हुए मुझ (प्रकृति) पर दृष्टि डालते हैं उसीको मैं परम अनुग्रह मानती हूँ। प्रभो! मैं आपके कथनको मिथ्या नहीं मानती; जगत्‌में कई स्त्रियाँ ऐसी हैं जो स्वामीके रहते भी अन्य पुरुषपर आसक्त हो जाती हैं,......पुंश्चली स्त्रियोंका मन विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषोंपर आसक्त होता रहता है किन्तु चतुर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वे ऐसी असती स्त्रियोंसे विवाह कभी न करें। क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ दोनों कुलोंको कलङ्कित करती हैं जिससे स्त्रीके साथ ही पुरुषकी भी इस लोकमें अकीर्त्ति और परलोकमें बुरी गति होती है।'

इस प्रकार भगवान्‌को तत्त्वसे जाननेवाली प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्ति देवी रुक्मिणीजीने अपने भाषणमें भगवान्‌का स्वरूप, माहात्म्य, भगवत्प्राप्तिके उपाय, भक्तोंकी निष्ठा, भक्तोंके कर्तव्य और भगवान्‌से विमुख अधम जीवोंकी दशा तथा उनकी गतिका वर्णन किया। देवी रुक्मिणीके इस भाषणसे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और सकाम-भावकी निन्दा, निष्कामकी प्रशंसा तथा सब

कुछ छोड़कर प्रेमसे भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुल रहनेवाले भक्तोंका महत्व बतलाते हुए उन्होंने कहा—

> दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविविक्तमन्त्रः,
>
> प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् ।
>
> मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं,
>
> तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ॥
>
> (श्रीमद्भागवत)

'तुमने मुझको ही वरनेका दृढ़ निश्चय करके अपने प्रणकी सूचना देनेके लिये मेरे पास दूत भेजा और जब मेरे आनेमें कुछ विलम्ब हुआ तब तुमने सब जगत्को शून्य देखकर यह विचार किया कि यह शरीर और किसीके भी योग्य नहीं है । इसका न रहना ही उत्तम है, अतएव मैं तुम्हारे प्रेमका बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ, तुमने जो किया सो तुम्हारे ही योग्य है, मैं केवल तुमको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करूँगा ।'

भगवान् श्रीकृष्ण और भगवती रुक्मिणीके इस संवादपर टीका करनेकी हममें कोई योग्यता नहीं और न हम अपना अधिकार ही समझते हैं । भक्त साधक बारम्बार इस संवादको मन लगाकर पढ़ें, मनन करें और अपना कर्तव्य निश्चित करें !
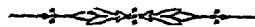
सद्‌गुणवती कैकेयी

रामायणमें महारानी कैकेयीका चरित्र सबसे अधिक बदनाम है। जिसने सारे विश्वके परमप्रिय प्राणाराम रामको विना अपराध वनमें भिजवानेका अपराध किया, उसका पापिनी, कलङ्किनी, राक्षसी, कुलविनाशिनी कहलाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। समस्त सद्‌गुणोंके आधार, जगदाधार राम जिसकी आँखोंके काँटे हो गये, उसपर गालियोंकी बौछार न हो तो किसपर हो ? इसीसे लाखों वर्ष बीत जानेपर भी आज जगत्‌के नर-नारी कैकेयीका नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं और मौका पानेपर उसे दो-चार ऊँचे-नीचे शब्द सुनानेसे बाज़ नहीं आते। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कैकेयी सर्वथा दुर्गुणोंकी ही खान

थी, उसमें कोई सद्गुण था ही नहीं। सच्ची बात तो यह है कि यदि श्रीराम-वनवासमें कैकेयीके कारण होनेका प्रसङ्ग निकाल लिया जाय तो शायद कैकेयीका चरित्र रामायणके प्रायः सभी स्त्री-चरित्रोंसे बढ़कर समझा जाय। कैकेयीके राम-वनवासके कारण होनेमें भी एक बड़ा भारी रहस्य छिपा हुआ है, जिसका उद्घाटन होनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीरामके अनन्य और अनुकूल भक्तोंमें कैकेयीजीका स्थान सर्वोच्च है। इस विषयपर आगे चलकर यथामति विचार प्रकट किये जायँगे। पहले कैकेयीके अन्य गुणों-की ओर दृष्टि डालिये।

कैकेयी महाराज केकयकी पुत्री और दशरथजीकी छोटी रानी थी। यह केवल अप्रतिम सुन्दरी ही नहीं थी, प्रथम श्रेणीकी पतिव्रता और वीराङ्गना भी थी। बुद्धिमत्ता, सरलता, निर्भयता, दयालुता आदि सद्गुणोंका कैकेयीके जीवनमें पूर्ण विकास था। इसने अपने प्रेम और सेवाभावसे महाराजके हृदयपर इतना अधि-कार कर लिया था कि महाराज तीनों पटरानियोंमें कैकेयीको ही सबसे अधिक मानते थे। कैकेयी पति-सेवाके लिये सभी कुछ कर सकती थी। एक समय महाराज दशरथ देवताओंकी सहायताके लिये शम्बरासुर नामक राक्षससे युद्ध करने गये। उस समय

कैकेयीजी भी पतिके साथ रणाङ्गणमें गयी थीं, आराम या भोग भोगनेके लिये नहीं, सेवा और शूरतासे पतिदेवको सुख पहुँचानेके लिये। कैकेयीका पातिव्रत और वीरत्व इसीसे प्रकट है कि उसने एक समय महाराज दशरथके सारथिके मर जानेपर स्वयं बड़ी ही कुशलतासे सारथिका कार्य करके महाराजको सङ्कटसे बचाया था। उसी युद्धमें दूसरी बार एक घटना यह हुई कि महाराज घोर युद्ध कर रहे थे, इतनेमें उनके रथके पहियेकी धुरी निकलकर गिर पड़ी। राजाको इस बातका पता नहीं लगा। कैकेयीने इस घटनाको देख लिया और पतिकी विजय-कामनासे महाराजसे बिना कुछ कहे-सुने तुरन्त धुरीकी जगह अपना हाथ डाल दिया और बड़ी धीरतासे बैठी रही। उस समय वेदनाके मारे कैकेयीके आँखोंके कोये काले पड़ गये, परन्तु उसने अपना हाथ नहीं हटाया। इस विकट समयमें यदि कैकेयीने बुद्धिमत्ता और सहन-शीलतासे काम न लिया होता तो महाराजके प्राण बचने कठिन थे।

शत्रुओंका संहार करनेके बाद जब महाराजको इस घटना-का पता लगा तो उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा। उनका हृदय कृतज्ञता तथा आनन्दसे भर गया। ऐसी वीरता और त्यागपूर्ण क्रिया करनेपर भी कैकेयीके मनमें कोई अभिमान नहीं, वह पतिपर

कोई एहसान नहीं करती। महाराज वरदान देना चाहते हैं तो वह कह देती है कि मुझे तो आपके प्रेमके सिवा अन्य कुछ भी नहीं चाहिये। जब महाराज किसी तरह नहीं मानते और दो वर देनेके लिये हठ करने लगते हैं तब दैवी-प्रेरणा-वश 'आवश्यक होनेपर माँग लूँगी' कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेती है। उसका यह अपूर्व त्याग सर्वथा सराहनीय है।

भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये हैं। पीछेसे महाराजने चैत्रमासमें श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी की, किसी भी कारणसे हो, उस समय महाराज दशरथने इस महान् उत्सवमें भरत और शत्रुघ्नको बुलानेकी भी आवश्यकता नहीं समझी, न केकयराजको ही निमन्त्रण दिया गया। कहा जाता है कि कैकेयीके विवाहके समय महाराज दशरथने इसीके द्वारा उत्पन्न होनेवाले पुत्रको राज्यका अधिकारी मान लिया था। परन्तु रघुवंशकी प्रथा और श्रीरामके प्रति अधिक अनुराग होनेके कारण चुपचाप रामको युवराज-पद प्रदान करनेकी तैयारी कर ली गयी। यही कारण था कि रानी कैकेयीके महलोंमें भी इस उत्सवके समाचार पहलेसे नहीं पहुँचे थे। रानी कैकेयी अपना स्वत्व जानती थी, उसे पता था कि भरतको मेरे पुत्रके नाते राज्याधिकार मिलना चाहिये, परन्तु

कैकेयी इस बातकी कुछ भी परवा न कर रामराज्याभिषेककी बात सुनते ही प्रसन्न हो गयी। देव-प्रेरित कुबड़ी मन्थराने आकर जब उसे यह समाचार सुनाया तब वह आनन्दमें डूब गयी। वह मन्थराको पुरस्कारमें एक दिव्य उत्तम गहना देकर *'दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्'* कहती है—

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते॥

रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥

न मे परं किञ्चिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु॥
(वा० रा० २। ७। ३४ से ३६)

'मन्थरे! तूने मुझको यह बड़ा ही प्रिय संवाद सुनाया है, इसके बदलेमें मैं तेरा और क्या उपकार करूँ? (यद्यपि भरतको राज्य देनेकी बात हुई थी) परन्तु राम और भरतमें मैं कोई भेद नहीं देखती, मैं इस बातसे बहुत प्रसन्न हूँ कि महाराज

कल रामका राज्याभिषेक करेंगे। हे प्रियवादिनी! रामके राज्याभिषेकका संवाद सुननेसे बढ़कर मुझे अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। ऐसा अमृतके समान सुखप्रद वचन सब नहीं सुना सकते। तूने यह वचन सुनाया है, इसके लिये तू जो चाहे सो पुरस्कार माँग ले, मैं तुझे देती हूँ।'

इसपर मन्थरा गहनेको फेंककर कैकेयीको बहुत कुछ उल्टा-सीधा समझाती है, परन्तु फिर भी कैकेयी तो श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करती हुई यही कहती है कि 'श्रीरामचन्द्र धर्मज्ञ, गुणवान्, संयतेन्द्रिय, सत्यव्रती और पवित्र हैं, वह राजाके ज्येष्ठ पुत्र हैं, अतएव (हमारी कुलप्रथाके अनुसार) उन्हें युवराज-पदका अधिकार है। दीर्घायु राम अपने भाइयों और सेवकोंको पिताकी तरह पालन करेंगे। मन्थरा! तू ऐसे रामचन्द्रके अभिषेककी बात सुनकर क्यों दुखी हो रही है? यह तो अभ्युदयका समय है, ऐसे समयमें तू जल क्यों रही है? इस भावी कल्याणमें तू क्यों दुःख कर रही है?

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं स तु शुश्रूषते हि माम्॥

राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
मन्यते हि यथात्मानं यथा भ्रातॄंस्तु राघवः॥

(वा० रा० २ । ८ । १४, १६)

'मुझे भरत जितना प्यारा है, राम उससे कहीं अधिक प्यारे हैं, क्योंकि राम मेरी सेवा कौसल्यासे भी अधिक करते हैं। रामको यदि राज्य मिलता है तो वह भरतको ही मिलता है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि राम सब भाइयोंको अपने ही समान समझते हैं।'

इसपर जब मन्थरा महाराज दशरथकी निन्दाकर कैकेयी-को फिर उभाड़ने लगी, तब तो कैकेयीने उसको बड़ी बुरी तरह फटकार दिया—

ईदृशी यदि रामे च बुद्धिस्तव समागता।
जिह्वायाश्छेदनं चैव कर्तव्यं तव पापिनि॥

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तौ धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥

इस प्रसंगसे पता लगता है कि कैकेयी श्रीरामको कितना अधिक प्यार करती थी और उसे रामके राज्याभिषेकमें कितना बड़ा सुख था! इसके बाद मन्थराके पुनः कहा-सुनी करनेपर कैकेयीके द्वारा जो कुछ कार्य हुआ, उसे यहाँ लिखनेकी

आवश्यकता नहीं। उसी कुकार्यके लिये तो कैकेयी आजतक पापिनी और अनर्थकी मूलकारणरूपा कहलाती है। परन्तु विचार करनेकी बात है कि रामको इतना चाहनेवाली, कुलप्रथा और कुलकी रक्षाका हमेशा फिक्र रखनेवाली, परम सुशीला कैकेयीने राज्यलोभसे ऐसा अनर्थ क्यों किया ? जो थोड़ी देर पहले रामको भरतसे अधिक प्रिय बतलाकर उनके राज्याभिषेकके सुसंवादपर दिव्याभरण पुरस्कार देती थी और राम तथा दशरथकी निन्दा करनेपर, भरतको राज्य देनेकी प्रतिज्ञा जाननेपर भी, मन्थराको 'घरफोरी' कहकर उसकी जीभ निकलवाना चाहती थी, वही जरा-सी देरमें इतनी कैसे बदल जाती है कि वह रामको चौदह सालके लिये वनके दुःख सहन करनेको भेज देती है और भरतके शील-स्वभावको जानती हुई भी उसके लिये राज्यका वरदान चाहती है ?

इसमें रहस्य है। वह रहस्य यह है कि कैकेयीका जन्म भगवान् श्रीरामकी लीलामें प्रधान कार्य करनेके लिये ही हुआ था। कैकेयी भगवान् श्रीरामको परब्रह्म परमात्मा समझती थी और श्रीरामके लीलाकार्यमें सहायक बननेके लिये उसने श्रीरामकी रुचिके अनुसार यह जहरकी घूँट पीयी थी। यदि कैकेयी

श्रीरामको वन भिजवानेमें कारण न होती तो श्रीरामका लीला-कार्य सम्पन्न ही न होता। न सीताका हरण होता और न राक्षसराज रावण अपनी सेनासहित मरता। रामने अवतार धारण किया था 'दुष्कृतोंका विनाश करके साधुओंका परित्राण करनेके लिये।' दुष्टोंके विनाशके लिये हेतुकी आवश्यकता थी। विना अपराध मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम किसीपर आक्रमण करने क्यों जाते ? आजकलके राज्यलोभी लोगोंकी भाँति वे जबरदस्ती परस्वापहरण करना तो चाहते ही नहीं थे। मर्यादाकी रक्षा करके ही सारा काम करना था। रावणको मारनेका कार्य भी दयाको लिये हुए था, मारकर ही उसका उद्धार करना था। दुष्ट कार्य करनेवालोंका वध करके ही साधु और दुष्टोंका—दोनोंका परित्राण करना था। साधुओंका दुष्टोंसे बचाकर सदुपदेशसे और दुष्टोंका कालमूर्ति होकर मृत्युरूपसे—एक ही वारसे दो शिकार करने थे। पर इस कार्यके लिये भी कारण चाहिये, वह कारण था—सीताहरण। इसके सिवा अनेक शाप-वरदानोंको भी सच्चा करना था, पहलेके हेतुओंकी मर्यादा रखनी थी, परन्तु वन गये विना सीताहरण होता कैसे ? राज्याभिषेक हो जाता तो वन जानेका कोई कारण नहीं रह जाता। महाराज दशरथकी मृत्युका

समय समीप आ पहुँचा था, उसके लिये भी किसी निमित्तकी रचना करनी थी। अतएव इस निमित्तके लिये देवी कैकेयीका चुनाव किया गया और महाराज दशरथकी मृत्यु, एवं रावणका वध, इन दोनों कार्योंके लिये कैकेयीके द्वारा राम-वनवासकी व्यवस्था करायी गयी।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

'भगवान् सबके हृदयमें स्थित हुए समस्त भूतोंको मायासे यन्त्रारूढकी तरह घुमाते हैं।' इसी गीतावाक्यके अनुसार सबके नियन्ता भगवान् श्रीरामकी ही प्रेरणासे देवताओंके द्वारा प्रेरित होकर जब सरस्वती देवी कैकेयीकी बुद्धि फेर गयी* और जब उसका पूरा असर हो गया, (*भावीवश प्रतीति उर आई*) तब

---

* देवताओंने सरस्वतीको यह कहकर भेजा था कि—

'मन्थरां प्रविशस्वादौ कैकेयी च ततः परम्।
ततो विघ्ने समुत्पन्ने पुनरेहि दिवं शुभे॥'

(अध्यात्म रामायण)

पहले मन्थरामें प्रवेश करके फिर कैकेयीकी बुद्धिमें प्रवेश करना और रामके अभिषेकमें विघ्न करके वापस लौट आना।

भगवदिच्छानुसार वरतनेवाली कैकेयी भगवान्‌की मायावश ऐसा कार्य कर वैठी,* जो अत्यन्त क्रूर होनेपर भी भगवान्‌की लीलाकी सम्पूर्णताके लिये अत्यन्त आवश्यक था।

अब प्रश्न यह है कि 'जब कैकेयी भगवान्‌की परम भक्त थी, प्रभुकी इस आभ्यन्तरिक गुह्यलीलाके अतिरिक्त प्रकाश्यमें भी श्रीरामसे अत्यन्त प्यार करती थी, राज्यमें और परिवारमें उसकी वड़ी सुख्याति थी, सारा कुटुम्ब कैकेयीसे खुश था, फिर भगवान्‌ने उसीके द्वारा यह भीषण कार्य कराकर उसे कुटुम्बियों और अवधवासियोंके द्वारा तिरस्कृत, पुत्रद्वारा अपमानित और इतिहासमें सदाके लिये लोक-निन्दित क्यों बनाया? जब भगवान् ही सबके प्रेरक हैं, तो साध्वी सरला कैकेयीके मनमें सरस्वतीके

---

* कैकेयीके ऐसा करनेका एक कारण यह भी वतलाया जाता है कि कैकेयी जब लड़कपनमें अपने पिताके घर थी, तब वहाँ एक दिन एक कुरूप ब्राह्मणको आया देखकर कैकेयीने उसकी दिल्लगी उड़ायी थी और निन्दा की थी। इससे क्रुद्ध होकर उस तपस्वी ब्राह्मणने कैकेयीको यह शाप दिया था कि 'तू अपने रूपके अभिमानसे अन्धी होकर मेरे कुरूप वदनकी निन्दा करती है, इसलिये तू भी कुरूपा स्त्रीकी बातोंमें आकर ऐसा कर्म कर वैठेगी जिससे जगत्‌में तेरी बड़ी भारी नीच निन्दा होगी!'

द्वारा ऐसी प्रेरणा ही क्यों करवायी, जिससे उसका जीवन सदाके लिये दुखी और नाम सदाके लिये वदनाम हो गया ?' इसीमें तो रहस्य है । भगवान् श्रीराम साक्षात् सच्चिदानन्द परमात्मा थे, कैकेयी उनकी परम अनुरागिणी सेविका थी । जो सवसे गुह्य और कठिन कार्य होता है उसको सवके सामने न तो प्रकाशित ही किया जा सकता है और न हर कोई उसे करनेमें ही समर्थ होता है। वह कार्य तो किसी अत्यन्त कठोरकर्मी, घनिष्ठ और परम प्रेमीके द्वारा ही करवाया जाता है । खास करके जिस कार्यमें कर्त्ताकी वदनामी हो, ऐसे कार्यके लिये तो उसीको चुना जाता है, जो अत्यन्त ही अन्तरङ्ग हो । रामका लोकापवाद मिटानेके लिये श्रीसीताजी वनवास स्वीकार करती हुई सन्देशा कहलाती हैं—'मैं जानती हूँ कि मेरी शुद्धतामें आपको सन्देह नहीं है, केवल आप लोकापवादके भयसे मुझे त्याग रहे हैं । तथापि मेरे तो आप ही परमगति हैं । आपका लोकापवाद दूर हो, मुझे अपने शरीरके लिये कुछ भी शोक नहीं है ।' सीताजी यहाँ 'रामकाज' के लिये कष्ट सहती हैं परन्तु उनकी वदनामी नहीं होती, प्रशंसा होती है । उनके पातिव्रतकी आजतक पूजा होती है परन्तु कैकेयीका कार्य इससे

अत्यन्त महान् है। उसे तो 'रामकाज' के लिये रामविरोधी मशहूर होना पड़ेगा। *'यावच्चन्द्रदिवाकरौ'* गालियाँ सहनी पड़ेंगी। पापिनी, कलङ्किनी, कुलघातिनीकी उपाधियाँ ग्रहण करनी पड़ेंगी, वैधव्यका दुःख स्वीकारकर पुत्र और नगरनिवासियोंद्वारा तिरस्कृत होना पड़ेगा। तथापि 'रामकाज' जरूर करना पड़ेगा! यही रामकी इच्छा है और इस 'रामकाज' के लिये रामने कैकेयीको ही प्रधान पात्र चुना है। इसीसे यह कलङ्कका चिर टीका उसीके सिर पोता गया है। यह इसीलिये कि वह परब्रह्म श्रीरामकी परम अन्तरंग प्रेमपात्री है, वह श्रीरामकी लीलामें सहायिका है, उसे बदनामी-खुशनामीसे कोई काम नहीं, उसे तो सब कुछ सहकर भी 'रामकाज' करना है। रामरूपी सूत्रधार जो कुछ भी पार्ट दें, उनके नाटककी सांगताके लिये उनकी आज्ञानुसार इसे तो वही खेल खेलना है, चाहे वह कितना ही क्रूर क्यों न हो। कैकेयी अपना पार्ट बड़ा अच्छा खेलती है। राम अपने 'काज' के लिये सीता और लक्ष्मणको लेकर खुशी-खुशी वनके लिये विदा होते हैं। कैकेयी इस समय पार्ट खेल रही थी, इसलिये उसको उस सूत्रधारसे—नाटकके स्वामीसे—जिसके इङ्गितसे जगन्नाटकका प्रत्येक परदा पड़ रहा है और उसमें प्रत्येक क्रिया सुचारुरूपसे

हो रही है—एकान्तमें मिलनेका अवसर नहीं मिलता। इसीलिये वह भरतके साथ वन जाती है और वहाँ श्रीरामसे—नाटकके स्वामीसे—एकान्तमें मिलकर अपने पार्टके लिये पूछती है और साधारण स्त्रीकी भाँति लीलासे ही लीलामयसे उनको दुःख पहुँचानेके लिये क्षमा चाहती है परन्तु लीलामय भेद खोलकर साफ कह देते हैं कि 'यह तो मेरा ही कार्य था, मेरी ही इच्छासे, मेरी मायासे हुआ था, तुम तो निमित्तमात्र थी, सुखसे भजन करो और मुक्त हो जाओ।' वहाँका प्रसंग इस प्रकार है—जब भरत श्रीरामको लौटा ले जानेका बहुत आग्रह करते हैं, किसी प्रकार नहीं मानते, तब भगवान् श्रीरामका रहस्य जाननेवाले मुनि वशिष्ठ श्रीरामके सङ्केतसे भरतको अलग ले जाकर एकान्तमें समझाते हैं—'पुत्र! आज मैं तुझे एक गुप्त रहस्य सुना रहा हूँ। श्रीराम साक्षात् नारायण हैं, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावण-वधके लिये प्रार्थना की थी, इसीसे इन्होंने दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लिया है। श्रीसीताजी साक्षात् योगमाया हैं। श्रीलक्ष्मण शेषके अवतार हैं, जो सदा श्रीरामके साथ उनकी सेवामें लगे रहते हैं। श्रीरामको रावणका वध करना है, इससे वे जरूर वनमें रहेंगे। तेरी माताका कोई दोष नहीं है—

कैकेय्या वरदानादि यद्यन्निष्ठुरभाषणम् ॥
सर्वं देवकृतं नोचेदेवं सा भाषयेत्कथम् ।
तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने ॥

(अध्यात्म रामायण)

'कैकेयीने जो वरदान माँगे और निष्ठुर वचन कहे थे, सो सब देवका कार्य था ('रामकाज' था) नहीं तो भला, कैकेयी कभी ऐसा कह सकती ? अतएव तुम रामको अयोध्या लौटा ले चलनेका आग्रह छोड़ दो ।'

रास्तेमें भरद्वाजमुनिने भी संकेतसे कहा था—

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ।
रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं भविष्यति ॥

देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह ॥

(वा० रा० २ । ९२ । २९-३०)

'हे भरत ! तू माता कैकेयीपर दोषारोपण मत कर । रामका वनवास समस्त देव, दानव और ऋषियोंके परम हित और परम सुखका कारण होगा ।' अब श्रीवशिष्ठजीसे स्पष्ट परिचय

प्रातःकर भरत समक्ष जाते हैं और श्रीरामकी चरण-पादुका सादर लेकर अयोध्या लौटनेकी तैयारी करते हैं। इधर कैकेयीजी एकान्तमें श्रीरामके समीप जाकर आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहाती हुई व्याकुल हृदयसे—

प्राञ्जलिः प्राह हे राम! तव राजविघातनम्।
कृतं मया दुष्टधिया मायामोहितचेतसा॥
क्षमस्व मम दौरात्म्यं क्षमासारा हि साधवः।
त्वं साक्षाद्विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः॥
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत्।
त्वयैव प्रेरितो लोकः कुरुते साध्वसाधु वा॥
त्वदधीनमिदं विश्वमस्वतन्त्रं करोति किम्।
यथा कृत्रिमनर्तक्यो नृत्यन्ति कुहकेच्छया॥
त्वदधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी।
त्वयैव प्रेरिताऽहं च देवकार्यं करिष्यता॥
पाहि विश्वेश्वरानन्त! जगन्नाथ नमोऽस्तु ते।
छिन्धि स्नेहमयं पाशं पुत्रवित्तादिगोचरम्॥
त्वज्ज्ञानामलखड्गेन त्वामहं शरणं गता॥

(अध्यात्म रामायण)

—हाथ जोड़कर बोली—'हे श्रीराम ! तुम्हारे राज्याभिषेकमें मैंने विघ्न किया था। उस समय मेरी बुद्धि देवताओंने बिगाड़ दी थी और मेरा चित्त तुम्हारी मायासे मोहित हो गया था। अतएव मेरी इस दुष्टताको तुम क्षमा करो, क्योंकि साधु क्षमाशील हुआ करते हैं। फिर तुम तो साक्षात् विष्णु हो। इन्द्रियोंसे अव्यक्त सनातन परमात्मा हो, मायासे मनुष्यरूपधारी होकर समस्त विश्वको मोहित कर रहे हो। तुम्हींसे प्रेरित होकर लोग साधु-असाधु कर्म करते हैं। यह सारा विश्व तुम्हारे अधीन है, अस्वतन्त्र है, अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे कठपुतलियाँ नचानेवालेकी इच्छानुसार ही नाचती हैं, वैसे ही यह बहुरूपधारिणी नर्तकी माया तुम्हारे ही अधीन है। तुम्हें देवताओंका कार्य करना था अतएव तुमने ही ऐसा करनेके लिये मुझे प्रेरणा की। हे विश्वेश्वर ! हे अनन्त ! हे जगन्नाथ ! मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ। तुम अपनी तत्त्वज्ञानरूपी निर्मल तीक्ष्णधार-तलवारसे मेरी पुत्रवित्तादि विषयोंमें स्नेहरूपी फाँसीको काट दो। मैं तुम्हारे शरण हूँ।'

कैकेयीके स्पष्ट और सरल वचन सुनकर भगवान्‌ने हँसते हुए कहा—

यदाह मां महाभागे नानृतं सत्यमेव तत् ।
मयैव प्रेरिता वाणी तव वक्त्राद् विनिर्गता ॥

देवकार्यार्थ सिद्ध्यर्थमत्र दोषः कुतस्तव ।
गच्छ त्वं हृदि मां नित्यं भावयन्ती दिवानिशम् ॥

सर्वत्र विगतस्नेहा मद्भक्त्या मोक्ष्यसेऽचिरात् ।
अहं सर्वत्र समदृक् द्वेष्यो वा प्रिय एव वा ॥

नास्ति मे कल्पकस्येव भजतोऽनुभजाम्यहम् ।
मन्माया मोहितधियो मामम्ब मनुजाकृतिम् ॥

सुखदुःखाद्यनुगतं जानन्ति न तु तत्त्वतः ।
दिष्ट्या मद्गोचरं ज्ञानमुत्पन्नं ते भवापहम् ॥
स्मरन्ती तिष्ठ भवने लिप्यसे न च कर्मभिः ।

(अध्यात्म रामायण)

'हे महाभागे ! तुम जो कुछ कहती हो सो सत्य है, इसमें किञ्चित् भी मिथ्या नहीं । देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये मेरी ही प्रेरणासे उस समय तुम्हारे मुखसे वैसे वचन निकले थे । इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं । (तुमने तो मेरा ही काम किया है ।) अब तुम जाओ और हृदयमें सदा मेरा ध्यान करती रहो । तुम्हारा स्नेहपाश सब ओरसे टूट जायगा और मेरी इस

भक्तिके कारण तुम शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी। मैं सर्वत्र समदृष्टि हूँ। मेरे न तो कोई द्वेष्य है और न प्रिय। मुझे जो भजता है, मैं भी उसको भजता हूँ। परन्तु हे माता! जिनकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित है वे मुझको तत्त्वसे न जानकर सुख-दुःखोंका भोक्ता साधारण मनुष्य मानते हैं। यह बड़े सौभाग्यका विषय है कि तुम्हारे हृदयमें मेरा यह भव-नाशक तत्त्वज्ञान हो गया है। अपने घरमें रहकर मेरा स्मरण करती रहो। तुम कभी कर्मोंसे लिप्त नहीं होओगी।'

भगवान्‌के इन वचनोंसे ककेयीकी स्थितिका पता लगता है। भगवान्‌के कथनका सार यही है कि 'तुम महाभाग्यवती' हो, लोग चाहे तुम्हें अभागिनी मानते रहें। तुम निर्दोष हो, लोग चाहे तुम्हें दोषी समझें। तुम्हारे द्वारा तो यह कार्य मैंने ही करवाया था। जिन लोगोंकी बुद्धि माया-मोहित है, वही मुझको मामूली आदमी समझते हैं, तुम्हारे हृदयमें तो मेरा तत्त्वज्ञान है, तुम धन्य हो!

भगवान् श्रीरामके इन वचनोंको सुनकर कैकेयी आनन्द और आश्चर्यपूर्ण हृदयसे सैकड़ों वार साष्टाङ्ग प्रणाम और प्रदक्षिणा करके सानन्द भरतके साथ अयोध्या लौट गयी।

उपर्युक्त स्पष्ट वर्णनसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि कैकेयीने जान-बूझकर स्वार्थबुद्धिसे कोई अनर्थ नहीं किया था। उसने जो कुछ किया सो श्रीरामकी प्रेरणासे 'रामकाज' के लिये। इस विवेचनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि कैकेयी बहुत ही उच्चकोटिकी महिला थी। वह सरल, स्वार्थहीन, प्रेममय, स्नेह-वात्सल्य-युक्त, धर्मपरायणा, बुद्धिमती, आदर्श पतिव्रता, निर्भय वीरांगना होनेके साथ ही भगवान् श्रीरामकी अनन्य भक्त थी। उसकी जो कुछ बदनामी हुई और हो रही है, सो सब श्रीरामकी अन्तरंग प्रीतिके निदर्शनरूप ही है। जिस देवीने जगत्के आधार प्रेमके समुद्र अनन्य रामभक्त भरतको जन्म दिया, वह देवी कदापि तिरस्कारके योग्य नहीं हो सकती, ऐसी प्रातःस्मरणीया देवीके चरणोंमें बारम्बार अनन्त प्रणाम है।

सती-महिमा

> यथा गङ्गावगाहेन शरीरं पावनं भवेत्।
> तथा पतिव्रता दृष्ट्या शुभया पावनं भवेत्॥
>
> (का० ख० अ० ३।७०)

एक बार देवताओंने काशी-निवासी अगस्त्य मुनिके पास जानेका निश्चय किया और तदनुसार खास-खास देवताओंका एक दल देवगुरु बृहस्पतिकी अध्यक्षतामें चला। देवताओंने ऋषि अगस्त्यकी पर्णकुटीके पास पहुँचकर देखा कि हवनके धूएँकी मीठी सुगन्धसे सब दिशाएँ भर रही हैं। वेदाध्यायी विद्यार्थी बैठे वेदके सस्वर गानसे वन-प्रदेशको मुखरित कर रहे हैं, छोटे-छोटे हरिणोंके बच्चे ऋषिकन्याओंके साथ निडर होकर खेल रहे हैं। देवताओंने अगस्त्यजीकी कुटियाके आगे पतिव्रता-शिरोमणि अगस्त्यपत्नी सती लोपामुद्राके चरणचिह्न देखकर उनको प्रणाम

किया। फिर तपोमूर्ति अगस्त्यको देखकर सबने जय-जयकारकी ध्वनि की। अगस्त्यने उठकर यथोचित आदर सत्कारकर सबको यथायोग्य आसन दिये और उनसे आनेका कारण पूछा! देवताओंकी ओरसे बृहस्पतिजी कहने लगे—

हे महाभाग अगस्त्य! देवताओंके आनेका कारण मैं सुनाता हूँ। मुनिवर! आप धन्य हैं, आप कृतकृत्य हैं। आप तपकी श्री और ब्रह्मके तेजसे सम्पन्न हैं, आप उदार और मनस्वी हैं और सबसे अधिक महत्त्वकी बात यह है कि आपके घरमें कल्याणी पतिव्रता लोपामुद्रा-सरीखी सती देवी हैं। यह लोपामुद्रा अरुन्धती, सावित्री, अनसूया, शाण्डिल्या, सती, लक्ष्मी, शतरूपा, मेनका, सुनीति, संज्ञा और स्वाहा आदि पतिव्रताओंमें सबसे श्रेष्ठ समझी जाती हैं। यह आपके भोजन करनेके बाद भोजन करती हैं, आपके सोनेपर सोती हैं और आपसे पहले उठती हैं। आप जब किसी कामसे बाहर जाते हैं तब लोपामुद्रा कोई भी गहना नहीं पहनतीं। किसी पर-पुरुषका तो वह नाम भी नहीं लेतीं। आप कभी दो बात कह देते हैं तो भी वह सामने नहीं बोलतीं, आपके तकलीफ देनेपर भी उनकी प्रसन्नतामें कोई बाधा नहीं आ सकती,

आप किसी कामके लिये उनसे कहनेमें चाहे देर कर दें पर वह उसे करनेमें तनिक भी देर नहीं करतीं। आपके पुकारते ही सारे कामोंको छोड़कर दौड़ी आती हैं और पूछती हैं—'नाथ! क्या आज्ञा है? सुनाकर कृतार्थ कीजिये।' लोपामुद्रा दरवाजेपर बहुत देरतक खड़ी नहीं रहतीं। न दरवाजेमें वह बैठती हैं। आपकी आज्ञा बिना किसीको कुछ भी नहीं देतीं। आपके बिना कहे ही पूजाकी सारी सामग्री इकट्ठी कर देती हैं।

जल, कुश, पत्र, पुष्प और चावल आदि जब जिस चीजकी आपको आवश्यकता होती है, वह बड़ी प्रसन्नताके साथ पहलेसे उसे तैयार रखती हैं। आपके जूठे अन्न-फलोंका सेवन करती हैं। आपकी दी हुई चीज़को महाप्रसाद समझकर ग्रहण करती हैं। देवता, पितर, अतिथि, सेवक, गौ और भिखारियोंको दिये बिना वह भोजन नहीं करतीं। घरके सारे सामानको अच्छी तरह साफ-सुथरा और सजाकर रखती हैं। काम-काजमें बड़ी चतुर और बहुत कम खर्च लगानेवाली हैं। आपकी आज्ञा बिना कभी व्रत उपवासादि नहीं करतीं। सभा और उत्सवोंसे दूर रहती हैं। न आपके बिना तीर्थ-यात्रा करती हैं और न किसीका विवाह-शादी देखने जाती हैं। जब आप सुखसे सोते या अपनी मौजमें बैठे होते

हैं अथवा अपने मनोनुकूल काममें लगे रहते हैं उस समय वह अपने ज़रूरी कामकी बात भी आपके सामने नहीं छेड़तीं। रजस्वला होनेपर तीन दिनतक वह आपसे इतनी अलग रहती हैं कि न तो आप उनका चेहरा देख पाते हैं और न उनके मुँहका कोई शब्द ही सुन सकते हैं। तीन दिनोंके बाद स्नान करके वह और किसीका मुँह न देखकर पहले आपका मुख-दर्शन करती हैं। यदि कभी आप घरमें नहीं होते तो वह मन-ही-मन आपका ध्यान करती हुई सूर्य भगवान्‌का दर्शन कर लेती हैं। पतिव्रता लोपामुद्रा पतिकी दीर्घायुके लिये हलदी, रोली, काजल, पान-सुपारी, मांगलिक गहने, केशोंका कवरी-बन्धन और हाथ-कानके गहने यानी चूड़ी और कर्णफूलका त्याग नहीं करतीं। लोपामुद्रा धोबिन, बकवाद करनेवाली, संन्यासिनी और बुरे लक्षणवाली स्त्रियोंको कभी धर्मबहिन नहीं बनातीं। पतिसे द्वेष रखनेवाली स्त्रियोंसे तो कभी बाततक नहीं करतीं। अकेली नहीं रहतीं और नंगी होकर कभी नहाती नहीं। ऊखल, मूसल, झाडू, चक्की और देहलीपर कभी बैठतीं नहीं। जिन-जिन भले कामोंमें आपकी रुचि होती है वह भी उन्हींको सदा अच्छा समझती हैं।

पतिके वचनोंको न टालना ही स्त्रियोंका व्रत, परमधर्म और देवपूजा है। कैसे भी पतिकी प्रतिकूलता स्त्रीको नहीं करनी चाहिये। स्त्रीको स्वामीकी प्रसन्नतामें प्रसन्न और उदासीमें उदास होना चाहिये। सती स्त्री सम्पद्-विपद् दोनोंमें स्वामीका बराबर साथ देती है। पतिव्रता स्त्रीको चाहिये कि वह घी, तेल, नमक आदि चुक जानेपर भी पतिसे उनके लिये तकाजा नहीं करे और विशेष परिश्रमके काममें पतिको नहीं लगावे। तीर्थ नहानेकी इच्छा होनेपर पतिका चरणोदक पी ले। पतिको शिव और विष्णु-की अपेक्षा भी ऊँचा मानना चाहिये। जो स्त्री पतिकी आज्ञा विना व्रत-उपवासादि करती है वह पतिकी आयु घटाती है और मरने-पर नरकमें जाती है। जो स्त्री क्रोधमें आकर पतिको बदलेमें जवाब देती है वह दूसरे जन्ममें गाँवकी कुतिया और वनकी सियारी होती है। स्त्रीको दृढ़ संकल्पके साथ सदा पतिके चरणोंकी सेवा करके भोजन करना चाहिये। ऊँचे आसनपर बैठना और विना मतलब पराये घरोंमें जाना नहीं चाहिये। शरमके शब्द कभी नहीं बोलने चाहिये। किसीकी निन्दा या भूलकर भी किसीसे कलह नहीं करना चाहिये। बड़ोंके सामने ऊँची आवाजसे बोलना और हँसना उचित नहीं। जो दुष्टबुद्धिवाली स्त्री स्वामीको त्यागकर

पशुवृत्ति अवलम्बन करती है वह दूसरे जन्ममें वृक्षोंमें रहनेवाली उलूकी होती है। जो स्त्री स्वामीको बदलेमें कष्ट देना चाहती है वह दूसरे जन्ममें बाघिनी या बिल्ली होती है। जो स्त्री पर-पुरुषको बुरी नज़रसे देखती है वह चील होती है और जो चटोरपनके कारण स्वामीसे छिपाकर स्वयं मिष्टान्न खाती है वह शूकरी या बागल होती है। जो स्त्री वचनोंसे पतिका तिरस्कार करती है वह गूँगी होती है और जो सौतोंसे डाह करती है वह बार-बार अभागिनी होती है। जो पतिसे नजर छिपाकर पर-पुरुषको देखती है वह जन्मान्तर-में कानी, कुरूपा और कुमुखी होती है। (यही व्यवस्था पुरुषोंको स्त्रियोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर अपने लिये समझनी चाहिये।) जो स्त्री पतिको बाहरसे आया हुआ देखकर शीघ्र ही जल आसनादि देती है और गर्मीसे व्याकुल पतिको हवा करके मीठी वाणी और चरण-सेवासे उसे प्रसन्न करती है वह तीनों लोकोंको प्रिय होती है। पिता, भाई, पुत्र आदि परिमित सुख देनेवाले हैं परन्तु स्वामी तो अपार सुखका दाता है। स्त्रीको चाहिये कि वह सदा पतिकी पूजा किया करे। स्त्रियोंके लिये केवल पति ही देवता, गुरु, धर्म, तीर्थ और व्रत है। सती स्त्रीकी बड़ी महिमा है। यमदूत सतीको देखते ही उसके पापी पतिको भी छोड़कर भाग

जाते हैं। यमदूत कहते हैं कि 'हम पतिव्रताको आते देखकर जितने डरते हैं उतने अग्नि और बिजलीसे भी नहीं डरते।' पतिव्रताके तेजसे सूर्य भी तपने लगता है, अग्नि भी जलने लगता है, उसके तेजके सामने सब काँपने लगते हैं। मनुष्यके शरीरमें जितने रोम हैं, उतने दस हजार करोड़ वर्षतक पतिव्रता स्त्री अपने पतिके साथ देवलोकमें सुख भोगती है।

धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः।
धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता॥
पितृवंश्या मातृवंश्या पतिवंश्यास्त्रयस्त्रयः।
पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुञ्जते॥

वे माता-पिता धन्य हैं जिनके घरमें पतिव्रता कन्या उत्पन्न हुई है और वह श्रीमान् पति भी धन्य है जिसके घरमें पतिव्रता पत्नी है। पतिव्रताके पुण्यसे उसके नैहर (पीहर) ननिहाल और अपने पतिके वंशकी तीन-तीन पीढ़ियाँ स्वर्गसुखको भोगती हैं।

इसके विपरीत दुराचारिणी स्त्री अपने चरित्रदोषसे पितृकुल, मातृकुल और पतिकुल तीनोंको नीचे गिरा देती है और स्वयं भी इस लोक और परलोकमें दुःख भोगती है। जिस-जिस जगह पतिव्रताका चरण टिकता है वहाँकी भूमि यह समझती है कि

'आज मैं परम पवित्र हो गयी। मुझे अब कोई भय नहीं रहा।' सूर्य, चन्द्रमा और वायु डरते-डरते केवल अपनेको पवित्र करनेके लिये पतिव्रताका स्पर्श करते हैं। जल तो सदा ही पतिव्रताका स्पर्श करना चाहता है। जल समझता है कि 'पतिव्रताके स्पर्शसे आज मेरी जड़ता दूर हो गयी, आज मैं दूसरोंको पवित्र करनेमें समर्थ हो गया।' सुन्दरताका घमंड रखनेवाली स्त्रियाँ घर-घरमें मिल सकतीं हैं परन्तु पतिव्रता स्त्री तो भगवान्‌की भक्तिसे ही मिलती है। गृहस्थ, सुख, धर्म और वंशवृद्धिका मूल भार्या ही है। भार्याकी सहायतासे ही लोक-परलोक सुधरता है। भार्याहीन पुरुष देव और पितृकार्य तथा अतिथि-सत्कारका भी अधिकारी नहीं होता। जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री विद्यमान है वही यथार्थ गृहस्थ है। अपतिव्रता तो राक्षसी जराकी तरह पल-पलमें पतिको जीर्ण करती है। जैसे गंगास्नानसे शरीर पवित्र हो जाता है वैसे ही पतिव्रता स्त्रीकी शुभदृष्टिसे भी होता है।

जो स्त्री किसी कारणसे पतिके मरनेपर उसके साथ अपने प्राण-त्याग न कर सके, उसे पवित्र भावसे अपने शीलकी रक्षा करनी चाहिये। आचरणभ्रष्ट होनेसे उसकी तो नीची गति होती ही है परन्तु उसके पापसे स्वर्गमें रहनेवाले उसके माता-पिता

और भाइयोंको भी नीचे गिरना पड़ता है। जो स्त्री पतिके मरनेपर विधवाव्रतका पालन करती है वह परलोकमें पुनः अपने स्वामीको पाकर सुख भोगती है। विधवाको बाल नहीं बाँधने चाहिये। बाल बाँधनेसे पतिका परलोकमें बन्धन होता है। विधवाको सिर मुंडवा लेना चाहिये, सादा भोजन करना चाहिये, पलंगपर कभी न सोकर जमीनपर सोना चाहिये, पलंगपर सोनेवाली स्त्री पतिको नीचे गिराती है। शरीरपर कभी उबटन या तैल, अतर-फुलेल नहीं लगाना चाहिये। प्रतिदिन पति, ससुर और दादाससुरके नाम-गोत्रका उच्चारणकर कुश और तिलोंके साथ जलसे तर्पण करना चाहिये। विधवा स्त्रीको, पति समझकर विष्णु भगवान्‌का नित्य पूजन करना चाहिये और विष्णुरूप पतिका ही सदा ध्यान करना चाहिये। अपने और अपने पतिके मन भानेवाली चीजें भगवान्‌के नामसे दान करनी चाहिये। घरमें हो तो दान देना चाहिये। बैलकी सवारीपर कभी चढ़ना नहीं चाहिये। आँगी, चोली या रंगीन कपड़ा नहीं पहनना चाहिये, (आँगी) चोलीके बदलेमें ऐसा कपड़ा पहनना चाहिये जिससे सारा बदन ढका रहे। ऐसे आचरणवाली विधवा स्त्री सदा ही मंगलमयी है। इस प्रकार धर्ममें तत्पर विधवाओंको कभी दुःख भोगना नहीं पड़ता

और अन्तमें वह पतिलोकको जाती है। पतिव्रता स्त्री गंगाके समान है वह साक्षात् हरगौरीके तुल्य है। पण्डितोंको चाहिये कि वे सदा ऐसी स्त्रियोंकी पूजा किया करें।

इतना कहकर महामति बृहस्पतिजी लोपामुद्राके प्रति प्रणाम करके बोले—'हे पतिचरणकमलोंमें नेत्र रखनेवाली महाभागे! तुम्हारे दर्शन पाकर हम कृतार्थ हुए, आज हमें गंगास्नानका फल मिला।' इसप्रकार पतिव्रता राजकन्या महाभाग्यवती लोपामुद्राको प्रणाम करके वेदके ज्ञाता देवगुरु बृहस्पति अगस्त्य मुनिसे बोले—'हे मुने! आप प्रणव हैं तो लोपामुद्रा श्रुति हैं, ये क्षमा हैं तो आप साक्षात् तप हैं। ये सत् क्रिया हैं तो आप उसके फल हैं, ये साक्षात् पतिव्रत तेज हैं तो आप ब्रह्मतेज हैं।'

(स्कन्द पुराणसे)

उपर्युक्त वर्णनमें देवगुरु बृहस्पतिजीने स्त्री-धर्मका जो महान् उपदेश किया है, उसीके अनुसार हिन्दू-स्त्रीको अपना जीवन बनाना चाहिये।

वशीकरण

द्रौपदी-सत्यभामा संवाद

भगवान् श्रीकृष्णकी पटरानी सत्यभामा एक समय वनमें पाण्डवोंके यहाँ अपने पतिके साथ सखी द्रौपदीसे मिलने गयीं। वहुत दिनों वाद परस्पर मिलन हुआ था इससे दोनोंको वड़ी खुशी हुइ। दोनों एक जगह वैठकर आनन्दसे अपने अपने घरोंकी वातें करने लगीं। वनमें भी द्रौपदीको वड़ी प्रसन्न और पाँचों पतियों द्वारा सम्मानित देखकर सत्यभामाको आश्चर्य हुआ। सत्यभामाने सोचा कि भिन्न-भिन्न प्रकृतिके पाँच पति होनेपर भी

द्रौपदी सबको समानभावसे खुश किस तरह रखती है। द्रौपदीने कोई वशीकरण तो नहीं सीख रक्खा है। यह सोचकर उसने द्रौपदीसे कहा—'सखी तुम लोकपालोंके समान दृढ़ शरीर महावीर पाण्डवोंके साथ कैसे बर्तती हो? वे तुमपर किसी दिन भी क्रोध नहीं करते, तुम्हारे कहनेके अनुसार ही चलते हैं और तुम्हारे मुँहकी ओर ताका करते हैं, तुम्हारे सिवा और किसीका स्मरण भी नहीं करते। इसका वास्तविक कारण क्या है? क्या किसी व्रत, उपवास, तप, स्नान, औषध और काम-शास्त्रमें कही हुई वशीकरण-विद्यासे अथवा तुम्हारी स्थिर जवानी या किसी प्रकारका जप, होम और अञ्जन आदि ओषधियोंसे ऐसा हो गया है? हे पाञ्चाली! तुम मुझे ऐसा कोई सौभाग्य और यश देनेवाला प्रयोग बताओ—

'जिससे मैं रख सकूं श्यामको अपने वशमें।'

—जिससे मैं अपने आराध्यदेव प्राणप्रिय श्रीकृष्णको निरन्तर वशमें रख सकूँ।'

यशस्विनी सत्यभामाकी बात सुनकर परम पतिव्रता द्रौपदी बोली—'हे सत्यभामा! तुमने मुझे (जप, तप, मन्त्र, औषध, वशीकरण-विद्या, जवानी और अञ्जनादिसे पतिको वशमें

करनेकी) दुराचारिणी स्त्रियोंके बर्तावकी बातें कैसे पूछीं ? तुम स्वयं बुद्धिमती हो, महाराज श्रीकृष्णकी प्यारी पटरानी हो, तुम्हें ऐसी बातें पूछना उचित नहीं । मैं तुम्हारी बातोंका क्या उत्तर दूँ ?

देखो, यदि कभी पति इस बातको जान लेता है कि स्त्री मुझपर मन्त्र, तन्त्र आदि चलाती है तो वह साँपवाले घरके समान उससे सदा बचता और उद्विग्न रहता है । जिसके मनमें उद्वेग होता है उसको कभी शान्ति नहीं मिलती और अशान्तको कभी सुख नहीं मिलता । हे कल्याणी ! मन्त्र आदिसे पति कभी वशमें नहीं होता । शत्रु लोग ही उपायद्वारा शत्रुके नाशके लिये विष आदि दिया करते हैं । वे ही ऐसे चूर्ण दे देते हैं जिनके जीभपर रखते ही या शरीरपर लगाते ही प्राण चले जाते हैं ।

कितनीं ही पापिनी स्त्रियोंने पतियोंको वशमें करनेके लोभ-से दवाइयाँ देकर किसीको जलोदरका रोगी, किसीको कोढ़ी, किसीको बूढ़ा, किसीको नपुंसक, किसीको जड, किसीको अन्धा और किसीको बहिरा बना दिया है । इस प्रकार पापियों-की बात माननेवाली पापाचारिणी स्त्रियाँ अपने पतियोंको वश करनेमें दुःखित कर डालती हैं । स्त्रियोंको किसी प्रकारसे किसी दिन भी पतियोंका अनहित करना उचित नहीं है ।

हे यशस्विनी ! मैं महात्मा पाण्डवोंसे जैसा बर्ताव करती हूँ सो सब कहती हूँ । ध्यान देकर सुनो । मैं अहंकार, काम और क्रोधको त्यागकर नित्य बहुत सावधानीसे पाँचों पाण्डवों और उनकी दूसरी-दूसरी स्त्रियोंकी (मेरी सौतोंकी) सेवा करती हूँ । मैं मनको रोककर अभिमानशून्य रहती हुई पतियोंके मनके अनुसार चलकर उन्हें प्रसन्न करती हूँ । मैं कभी बुरे वचन नहीं बोलती । देखने, चलने, बैठने और खड़ी होनेमें सदा सावधान रहती हूँ, कभी असभ्यता नहीं करती और सूर्यके समान तेजस्वी तथा चन्द्रमाके समान महारथी शत्रुनाशकारी पाण्डवोंके इशारोंको समझकर निरन्तर उनकी सेवा करती हूँ । देवता, मनुष्य, गन्धर्व, खूब सज-धजसे रहनेवाले युवा पुरुष बड़े धनी और रूपवान् चाहे जैसा भी कोई क्यों न हो, मेरा मन किसी भी परपुरुषकी ओर नहीं जाता । मेरे पति जबतक स्नान, भोजन करके बैठ नहीं जाते तबतक मैं न कभी भोजन करती हूँ और न बैठती ही हूँ । मेरे पति क्षेत्र, वन अथवा नगरमेंसे जब घर पधारते हैं तब मैं खड़ी होकर उनका स्वागत-सम्मान करती हूँ और आसन तथा जल देकर उनका आदर करती हूँ ।

मैं रोज घरके सब बर्तनोंको माँजती हूँ, सब घर भली भाँति झाड़-बुहारकर साफ रखती हूँ, मधुर अन्न बनाती हूँ, ठीक समय-

पर सबको जिमाती हूँ, सावधानीसे घरमें सदा आगे-पीछे अन्न जमा कर रखती हूँ। बुरी स्त्रियोंके पास कभी नहीं बैठती। बोलनेमें किसीका तिरस्कार नहीं करती। किसीको झिड़ककर कड़ुए शब्द नहीं कहती। नित्य आलस्य छोड़कर पतियोंके अनुकूल रहती हूँ। मैं दिल्लगीके वक्तको छोड़कर कभी हँसती नहीं। दरवाजेपर खड़ी नहीं रहती। खुली जगह, कूड़ा फेंकनेकी जगह और बगीचोंमें जाकर अधिक कालतक नहीं ठहरती। ज्यादा हँसना और ज्यादा क्रोध करना छोड़कर मैं सदा सच बोलती हुई पतियोंकी सेवा किया करती हूँ। मुझे पतियोंको छोड़कर अकेला रहना नहीं सुहाता। जब मेरे पति कुटुम्बके किसी कामसे बाहर जाते हैं तो मैं चन्दन-पुष्पतकको त्यागकर ब्रह्मचर्य-व्रत पालती हूँ।

मेरे पति जिस पदार्थको नहीं खाते, नहीं पीते और नहीं सेवन करते, उन सब पदार्थोंको मैं भी त्याग देती हूँ उनके उपदेशके अनुसार ही चलती हूँ और उनकी इच्छानुकूल ही गहने-कपड़े पहनकर सावधानीसे उनका प्रिय और हित करनेमें लगी रहती हूँ। मेरी भली सासने कुटुम्बके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस विषयमें मुझको जिस धर्मका उपदेश दिया था, उसको

तथा भिक्षा, बलिवैश्व, श्राद्ध, पर्वके समय बननेवाले स्थालीपाक, मान्य पुरुषोंकी पूजा और सत्कार आदि जो धर्म मेरे जाननेमें आये हैं, उन सबको मैं रातदिन सावधानीके साथ पालती हूँ और एकाग्रचित्तसे सदा विनय और नियमोंका पालन करती हुई अपने कोमलचित्त, सरलस्वभाव, सत्यवादी, धर्मपालक पतियोंकी सेवा करनेमें उसीप्रकार सावधान रहती हूँ जैसे क्रोधयुक्त साँपोंसे मनुष्य सावधान रहते हैं। हे कल्याणी! मेरे मतसे पतिके आश्रित रहना ही स्त्रियोंका सनातनधर्म है। पति ही स्त्रीका देवता और उसकी एकमात्र गति है। अतएव पतिका अप्रिय करना बहुत ही अनुचित है। मैं पतियोंसे पहले न कभी सोती हूँ, न भोजन करती हूँ और न उनकी इच्छाके विरुद्ध गहना-कपड़ा ही पहनती हूँ। कभी भूलकर भी अपनी सासकी निन्दा नहीं करती। सदा नियमानुसार चलती हूँ। हे सौभाग्यवती! मैं सदा प्रमादको छोड़कर चतुरतासे काममें लगी रहती और बड़ोंकी सच्चे मनसे सेवा किया करती हूँ। इसी कारण मेरे पति मेरे वशमें हो गये हैं।

हे सत्यभामा! वीरमाता, सत्य बोलनेवाली मेरी श्रेष्ठ सास कुन्ती-देवीको मैं खुद रोज अन्न, जल और वस्त्र देकर उनकी सेवा करती हूँ। मैं गहने, कपड़े और भोजनादिके सम्बन्धमें कभी

सासके विरुद्ध नहीं चलती। इन सब बातोंमें उनकी सलाह लिया करती हूँ और उस पृथ्वीके समान माननीय अपनी सास पृथादेवी-से मैं कभी ऐंठकर नहीं बोलती।

मेरे पति महाराज युधिष्ठिरके महलमें पहले प्रतिदिन हजारों ब्राह्मण और हजारों स्नातक सोनेके पात्रोंमें भोजन किया करते और रहते। हजारों दासियाँ उनकी सेवामें रहतीं। दूसरे दस हजार आजन्म ब्रह्मचारियोंको सोनेके थालोंमें उत्तम-उत्तम भोजन परोसे जाते थे। वैश्वदेव होनेके अनन्तर मैं उन सब ब्राह्मणोंका नित्य अन्न, जल और वस्त्रोंसे यथायोग्य सत्कार करती थी।

महात्मा युधिष्ठिरके एक लाख नृत्य-गीतविशारदा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृता दासियाँ थीं। उन सब दासियोंके नाम रूप और प्रत्येक कामके करने-न-करनेका मुझे सब पता रहता था और मैं ही उनके खाने-पीने और कपड़े-लत्तेकी व्यवस्था किया करती थी। महान् बुद्धिमान् महाराज युधिष्ठिरकी वे सब दासियाँ दिनरात सोनेके थाल लिये अतिथियोंको भोजन करानेके काममें लगी रहती थीं। जब महाराज नगरमें रहते थे तब एक लाख हाथी और एक लाख घोड़े उनके साथ चलते थे, यह सब विषय धर्म-राज युधिष्ठिरके राज्य करनेके समय था। मैं सबकी गिनती और

व्यवस्था करती थी और सवकी बातें सुनती थी। महलोंके और बाहरके नौकर, गौ और भेड़ोंके चरानेवाले ग्वाले क्या काम करते हैं, क्या नहीं करते हैं, इसका ध्यान रखती थी। पाण्डवोंकी कितनी आमदनी और कितना खर्च है तथा कितनी बचत होती है, इसका सारा हिसाव मुझे माळूम था। हे कल्याणी! हे यशस्विनी सत्यभामा! जव भरतकुलमें श्रेष्ठ पाण्डव घर-परिवारका सारा भार मुझ-पर छोड़कर उपासनामें लगे रहते थे तव मैं सव तरहके आरामको छोड़कर रातदिन दुष्ट-मनकी स्त्रियोंके न उठा सकने लायक कठिन कार्यके सारे भारको उठाये रखती। जिस समय मेरे पति उपासनादि-कार्यमें तत्पर रहते उस समय वरुणदेवताके खजाने महासागरके समान असंख्य धनके खजानोंकी देख-भाल मैं अकेली ही करती। इसप्रकार भूख-प्यास भुलाकर लगातार काममें लगी रहनेके कारण मुझे रातदिनकी सुधि भी न रहती थी। मैं सवके सोनेके वाद सोती और सवके उठनेके पहिले जाग उठती थी और निरन्तर सत्य व्यवहारमें लगी रहती। यही मेरा वशीकरण है। हे सत्य-भामा! पतिको वशमें करनेका सवसे अच्छा महान् वशीकरण-मन्त्र मैं जानती हूँ। दुराचारिणी स्त्रियोंके दुराचारोंको मैं न तो ग्रहण ही करती हूँ और न कभी उसकी मेरे इच्छा ही होती है।'

द्रौपदीके द्वारा श्रेष्ठ धर्मकी बातें सुनकर सत्यभामा बोली—'हे द्रौपदी! मैंने तुमसे इस तरहकी बातें पूछकर जो अपराध किया है, उसे क्षमा करो। सखियोंमें परस्पर हँसीमें स्वाभाविक ही ऐसी बातें निकल जाती हैं।'

द्रौपदी फिर कहने लगी—'हे सखि! पतिका चित्त खींचनेका एक कभी खाली न जानेवाला उपाय बतलाती हूँ। इस उपायको काममें लानेसे तुम्हारे स्वामीका चित्त सब तरफसे हटकर केवल तुम्हारेमें ही लग जायगा। हे सत्यभामा! स्त्रियोंके लिये पति ही परम देवता है, पतिके समान और कोई भी देवता नहीं है। जिसके प्रसन्न होनेसे स्त्रियोंके सब मनोरथ सफल होते हैं और जिसके नाराज होनेसे सब सुख नष्ट हो जाते हैं। पतिको प्रसन्न करके ही स्त्री पुत्र, नाना प्रकारके सुख-भोग, उत्तम शय्या, सुन्दर आसन, वस्त्र, पुष्प, गन्ध, माला, स्वर्ग, पुण्य लोक और महान् कीर्तिको प्राप्त करती है। सुख सहजमें नहीं मिलता, पति-व्रता स्त्री पहले दुःख झेलती है तब उसे सुख मिलता है। अतएव तुम भी प्रतिदिन सच्चे प्रेमसे सुन्दर वस्त्राभूषण, भोजन, गन्ध, पुष्प आदि प्रदान कर श्रीकृष्णकी आराधना करो। जब वे यह समझ जायँगे कि मैं सत्यभामाके लिये परम प्रिय हूँ तब

वे तुम्हारे वशमें हो जायँगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतएव तुम मेरे कथनानुसार उनकी सेवा करो।

तुम्हारे स्वामी घरके दरवाजेपर आवें और उनका शब्द तुम्हें सुनायी पड़े तो तुम तुरन्त सावधान होकर घरमें खड़ी रहो और ज्यों ही वे घरमें प्रवेश करें त्यों ही पाद्य आसन यानी पैर धोनेके लिये जल और बैठनेके लिये आसन देकर उनकी सेवा करो। हे सत्यभामा! तुम्हारे पति जब किसी कामके लिये दासी-को आज्ञा दें तो तुम दासीको रोककर तुरन्त दौड़कर उस काम-को अपने आप कर दो। तुम्हारा ऐसा सद्व्यवहार देखकर श्रीकृष्ण समझेंगे कि सत्यभामा सचमुच सब प्रकारसे मेरी सेवा करती है। तुम्हारे पति तुमसे जो कुछ कहें वह गुप्त रखनेलायक न हो तो भी तुम किसीसे मत कहो क्योंकि यदि तुमसे सुनकर तुम्हारी सौत कभी उनसे वह बात कह देगी तो वह तुमसे नाराज हो जायँगे।

जो लोग तुम्हारे स्वामीके प्रेमी हैं, हितैषी हैं और सदा अनुराग रखते हैं उनको विविध प्रकारसे भोजन कराना चाहिये और जो तुम्हारे पतिके शत्रु हों, विपक्षी हों, बुराई करनेवाले हों और कपटी हों उनसे सदा बची रहो। परपुरुषोंके सामने मद

और प्रमादको छोड़कर सावधान और मौन रहना चाहिये और एकान्तमें अपने कुमार साम्ब और प्रद्युम्नके साथ भी कभी न बैठना चाहिये। सत्कुलमें उत्पन्न होनेवाली पुण्यवती पतिव्रता सती स्त्रियोंके साथ मित्रता करना, परन्तु क्रूर स्वभाववाली, दूसरोंका अपमान करनेवाली, बहुत खानेवाली, चटोरी, चोरी करनेवाली, दुष्ट स्वभाववाली और चञ्चल चित्तवाली स्त्रियोंके साथ मित्रता (बहनेपा) कभी न करनी चाहिये।

एतद्यशस्यं भगदैवतं च स्वर्ग्यं तथा शत्रुनिवर्हणं च।
महार्हमाल्याभरणाङ्गरागा भर्तारमाराधय पुण्यगन्धा॥

(महाभारत वनपर्व अ० २३४)

'तुम बहुमूल्य उत्तम माला और गहनोंको धारण करके सदा स्वामीकी सेवामें लगी रहो। इस प्रकारके उत्तम आचरणोंमें लगी रहनेसे तुम्हारे शत्रुओंका नाश होगा, परम सौभाग्यकी वृद्धि होगी, स्वर्गकी प्राप्ति होगी और संसार तुम्हारे पुण्य यशकी सुगन्धसे भर जायगा।' (महाभारतसे)

होली और उसपर हमारा कर्तव्य

इसमें कोई सन्देह नहीं कि होली हिन्दुओंका बहुत पुराना त्यौहार है, परन्तु इसके प्रचलित होनेका प्रधान कारण और काल कौन-सा है इसका एकमतसे अबतक कोई निर्णय नहीं हो सका है। इसके बारेमें कई तरहकी बातें सुननेमें आती हैं, सम्भव है, सभीका कुछ-कुछ अंश मिलकर यह त्यौहार बना हो। पर आजकल जिस रूपमें यह मनाया जाता है उससे तो धर्म, देश और मनुष्य-जातिको बड़ा ही नुकसान पहुँच रहा है। इस समय क्या होता है और हमें क्या करना चाहिये, यह बतलानेके पहले, होली क्या है इसपर कुछ विचार किया जाता है। संस्कृतमें 'होलका' अधपके अन्नको कहते हैं। वैद्यकके अनुसार 'होला' स्वल्प वात है और मेद, कफ तथा थकावटको मिटाता है। होलीपर जो अधपके चने गन्ने या लाठीमें बाँधकर

जलती हुई होलीकी लपटमें सेंककर खाये जाते हैं, उन्हें 'होला' कहते हैं। कहीं-कहींपर अधपके नये जौकी बालें भी इसी प्रकार सेंकी जाती हैं। सम्भव है वसन्तऋतुमें शरीरके किसी प्राकृतिक विकारको दूर करनेके लिये होलीके अवसरपर होला चबानेकी चाल चली हो और उसीके सम्बन्धमें इसका नाम 'होलिका', 'होलाका' या 'होली' पड़ गया हो।

होलीका एक नाम है 'वासन्ती नवशस्येष्टि।' इसका अर्थ 'वसन्तमें पैदा होनेवाले नये धानका यज्ञ' होता है, यह यज्ञ फागुन शुक्ल १५ को किया जाता है इसका प्रचार भी शायद इसीलिये हुआ हो कि ऋतु-परिवर्तनके प्राकृतिक विकार यज्ञके धूएँसे नष्ट होकर गाँव-गाँव और नगर-नगरमें एक साथ ही वायुकी शुद्धि हो जाय। यज्ञसे बहुत-से लाभ होते हैं पर यज्ञधूमसे वायुकी शुद्धि होना तो प्रायः सभीको मान्य है। अथवा नया धान किसी देवताको अर्पण किये बिना नहीं खाना चाहिये, इस शास्त्रोक्त हेतुको प्रत्यक्ष दिखलानेके लिये सारी जातिने एक दिन ऐसा रक्खा हो जिस दिन देवताओंके लिये देशभरमें नये धानसे यज्ञ किया जाय। आजकल भी होलीके दिन जिस जगह काठ-कण्डे इकट्ठे करके उसमें आग लगायी जाती है, उस

जगहको पहले साफ करते और पूजते हैं और सभी ग्रामवासी उसमें कुछ-न-कुछ होमते हैं, यह शायद उसी 'नवशस्येष्टि' का बिगड़ा हुआ रूप हो। सामुदायिक यज्ञ होनेसे अब भी सभी लोग उसके लिये पहलेसे होमनेकी सामग्री घर-घरमें बनाने और आसानीसे वहाँतक ले जानेके लिये उसकी मालाएँ गूँथकर रखते हैं।

इसके अतिरिक्त इस त्यौहारके साथ ऐतिहासिक, पारमार्थिक और राष्ट्रीय तत्त्वोंका भी सम्बन्ध मालूम होता है। कहा जाता है कि भक्तराज प्रह्लादकी अग्निपरीक्षा इसी दिन हुई थी। प्रह्लादके पिता दैत्यराज हिरण्यकशिपुने अपनी बहिन 'होलका' से (जिसको भगवद्भक्तके न सतानेतक अग्निमें न जलनेका वरदान मिला हुआ था) प्रह्लादको जला देनेके लिये कहा, होलका राक्षसी उसे गोदमें लेकर बैठ गयी, चारों तरफ आग लगा दी गयी। प्रह्लाद भगवान्‌के अनन्य भक्त थे, वे भगवान्‌का नाम रटने लगे। भगवत्कृपासे प्रह्लादके लिये अग्नि शीतल हो गयी और वरदानकी शर्तके अनुसार 'होलका' उसमें जल मरी। भक्तराज प्रह्लाद इस कठिन परीक्षामें उत्तीर्ण हुए और आकर पितासे कहने लगे—

राम नामके जापक जन हैं तीनों लोकोंमें निर्भय।
मिटते सारे ताप नामकी औषधसे, पक्का निश्चय॥

नहीं मानते हो तो मेरे तनकी ओर निहारो तात।
पानी पानी हुई आग है जला नहीं किञ्चित् भी गात॥*

इन्हीं भक्तराज और इनकी विशुद्ध भक्तिका स्मारकरूप यह होलीका त्यौहार है। आज भी 'होलिका-दहन' के समय प्रायः सब मिलकर एक स्वरमें 'भक्तवर प्रह्लादकी जय' बोलते हैं। हिरण्यकशिपुके राजत्वकालमें अत्याचारिणी होलकाका दहन हुआ और भक्ति तथा भगवन्नामके अटल प्रतापसे दृढ़व्रत भक्त प्रह्लादकी रक्षा हुई और उन्हें भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हुए।

इसके सिवा इस दिन सभी वर्णके लोग भेद छोड़कर परस्पर मिलते-जुलते हैं। शायद किसी जमानेमें इसी विचारसे यह त्यौहार बना हो कि सालभरके विधि-निषेधमय जीवनको अलग-अलग अपने-अपने कामोंमें बिताकर इस एक दिन सब भाई परस्पर गले लगकर प्रेम बढ़ावें। कभी भूलसे या किसी कारणसे किसीका मनोमालिन्य हो गया हो तो उसे इस आनन्दके त्यौहारमें सब एक साथ मिलजुलकर हटा दें। असलमें एक

* रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसंनिधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

ऐसा राष्ट्रीय उत्सव होना भी चाहिये कि जिसमें सभी लोग छोटे-बड़े और राजा-रंकका भेद भूल विना किसी भी रुकावटके शामिल होकर परस्पर प्रेमालिंगन कर सकें। यही होलीका ऐतिहासिक, पारमार्थिक और राष्ट्रीय तत्त्व मालूम होता है।

जो कुछ भी हो, इन सारी बातोंपर विचार करनेसे यही अनुमान होता है कि यह त्यौहार असलमें मनुष्य-जातिकी भलाईके लिये ही चलाया गया था, परन्तु आजकल इसका रूप बहुत ही बिगड़ गया है। इस समय अधिकांश लोग इसको जिस रूपमें मनाते हैं उससे तो सिवा पाप बढ़ने और अधोगति होनेके और कोई अच्छा फल होता नहीं दीखता।

आजकल क्या होता है?

कई दिनों पहलेसे स्त्रियाँ गन्दे गीत गाने लगती हैं, पुरुष बेशरम होकर गन्दे अश्लील कबीर, धमाल, रसिया और फाग गाते हैं। स्त्रियोंको देखकर बुरे-बुरे इशारे करते और आवाजें लगाते हैं। डफ बजाकर बुरी तरहसे नाचते और बड़ी गन्दी-गन्दी चेष्टाएँ करते हैं। भाँग, गाँजा, सुल्फा और माँजू आदि पीते तथा खाते हैं। कहीं-कहीं शराब और वेश्याओंतककी धूम मचती है। भाभी, चाची, साली, सालेकी स्त्री, मित्रकी स्त्री,

पड़ोसिन और पत्नी आदिके साथ निर्लज्जतासे फाग खेलते और गन्दे-गन्दे शब्दोंकी बौछार करते हैं। राख, मिट्टी और कीचड़ उछाले जाते हैं, मुँहपर स्याही, कारिख या नीला रंग पोत दिया जाता है, कपड़ोंपर और दीवारोंपर गन्दे शब्द लिख दिये जाते हैं, टोपियाँ और पगड़ियाँ उछाल दी जाती हैं, कहीं-कहींपर जूतोंके हार बनाकर पहने और पहनाये जाते हैं, लोगोंके घरोंपर जाकर गन्दी आवाजें लगायी जाती हैं। फल क्या होता है? गन्दी और अश्लील बोलचाल और गन्दे व्यवहारसे ब्रह्मचर्यका नाश होकर स्त्री-पुरुष व्यभिचारके दोषसे दोषी बनते हैं। शास्त्रमें कहा है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

(१) किसी भी स्त्रीको किसी अवस्थामें भी याद करना, (२) उसके रूपगुणोंका वर्णन करना, स्त्री-सम्बन्धी चर्चा करना या गीत गाना, (३) स्त्रियोंके साथ तास, चौपड़, फाग आदि खेलना (४) स्त्रियोंको देखना (५) स्त्रीसे एकान्तमें बातें

करना (६) स्त्रीको पानेके लिये मनमें संकल्प करना, (७) पानेके लिये प्रयत्न करना और (८) सहवास करना, ये आठ प्रकारके मैथुन विद्वानोंने बतलाये हैं, कल्याण चाहनेवालेको इन आठोंसे बचना चाहिये। इसके सिवा ऐसे आचरणोंसे निर्लज्जता बढ़ती है, ज़बान बिगड़ जाती है, मनपर बुरे संस्कार जम जाते हैं, क्रोध बढ़ता है, परस्परमें लोग लड़ पड़ते हैं, असभ्यता और पाशविकता भी बढ़ती है। अतएव सभी स्त्री-पुरुषोंको चाहिये कि वे इन गन्दे कामोंको बिल्कुल ही न करें। इनसे लौकिक और पारमार्थिक दोनों तरहके नुकसान होते हैं। फिर क्या करना चाहिये? फागुन सुदी ११ से चैत बदी १ तक नीचे लिखे काम करने चाहिये।

(१) फागुन सुदी ११ को या और किसी दिन भगवान्‌की सवारी निकालनी चाहिये, जिसमें सुन्दर-सुन्दर भजन और नामकीर्तन हो।

(२) सत्सङ्गका खूब प्रचार किया जाय। स्थान-स्थानमें इसका आयोजन हो। सत्सङ्गमें ब्रह्मचर्य, अक्रोध, क्षमा, प्रमादके त्याग, नाममाहात्म्य और भक्तिकी विशेष चर्चा हो।

(३) भक्ति और भक्तकी महिमाके तथा सदाचारके गीत गाये जायँ।

(४) फागुन सुदी १५ को हवन किया जाय।

(५) श्रीमद्भागवत और श्रीविष्णुपुराण आदिसे प्रह्लादकी कथा सुनी और सुनायी जाय।*

(६) साधकगण एकान्तमें भजन-ध्यान करें।

(७) श्रीश्रीचैतन्यदेवकी जन्मतिथिका उत्सव मनाया जाय। महाप्रभुका जन्म होलीके दिन ही हुआ था। इसी उपलक्ष्यमें मुहल्ले-मुहल्ले घूम-घूमकर नामकीर्तन किया जाय। घर-घरमें हरिनाम सुनाया जाय।

(८) धुरेण्डीके दिन ताल, मृदंग और झाँझ आदिके साथ बड़े जोरसे नगरकीर्तन निकाला जाय जिसमें सब जाति और सभी वर्णोंके लोग बड़े प्रेमसे शामिल हों।

* प्रह्लादकी सुन्दर जीवनी गीताप्रेससे मँगवाकर पढ़िये।

दीवाली

दीवालीपर हमारे यहाँ प्रधानतः चार काम हुआ करते हैं—घरका कूड़ा-कचरा निकालकर घरको साफ करना और सजाना, कोई नयी चीज़ खरीदना, खूब रोशनी करना और श्रीलक्ष्मीजीका आवाहन तथा पूजन करना। काम चारों ही आवश्यक हैं किन्तु प्रणालीमें कुछ परिवर्तन करनेकी आवश्यकता है। यदि वह परिवर्तन कर दिया जाय तो दीवालीका महोत्सव बारहवें महीने न आकर नित्य ही बना रहे और कभी उससे जी ऊबे भी नहीं! पाठक कहेंगे कि यह है तो बड़े मजेकी बात परन्तु रोज़-रोज़ इतना खर्च कहाँसे आवेगा? इसका उत्तर यह है कि फिर बिना ही रुपये-पैसेके खर्चके यह महोत्सव बना रहेगा और उनकी रौनक भी इससे खूब बढ़ी चढ़ी रहेगी। अब तो उस बातके जाननेकी उत्कण्ठा सभीके मनमें होनी चाहिये। उत्कण्ठा हो या न हो, मुझे तो सुना ही देनी है—ध्यानसे सुनिये—

दीवालीपर हम कूड़ा निकालते हैं परन्तु निकालते हैं केवल बाहरका ही। भीतरका कूड़ा ज्यों-का-त्यों भरा रहता है, जिसकी गन्दगी दिनों दिन बढ़ती ही रहती है। वह कूड़ा रहता है—भीतरी घरमें, शरीरके अन्दर मनमें। कूड़ेके कई नाम हैं—काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, मद, वैर, हिंसा, ईर्षा, द्रोह, घृणा और मत्सर आदि, ये प्रधान-प्रधान नाम हैं। इनके साथी और चेले-चाँटे बहुत हैं। इन सबमें प्रधान तीन हैं—काम, क्रोध और लोभ। इनको साथियोंसहित झाड़ूसे झाड़-बुहार बाहर निकालकर जला देना चाहिये। कूड़े-कचरेमें आग लगा देना अच्छा हुआ करता है। जहाँ यह कूड़ा निकला कि घर सदाके लिये साफ हो गया। इसके बाद घर सजानेकी बात रही। हम लोग केवल ऊपरी सजावट करते हैं जिसके बिगड़ने और नाश होनेमें देर नहीं लगती। सच्ची सजावट है अन्दरके घरको दैवीसम्पदाके सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंसे सजानेमें। इनमें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, दया, शौच, मैत्री, प्रेम, सन्तोष, स्वाध्याय, अपरिग्रह, निरभिमानिता, नम्रता, सरलता आदि मुख्य हैं।

हमारी धारणा है कि साफ सजे हुए घरमें लक्ष्मीदेवी आती हैं, बात ठीक है परन्तु लक्ष्मीजी सदा ठहरती क्यों नहीं?

इसीलिये कि हमारी सफाई और सजावट केवल बाहरी होती है। और फिर वे ठहरीं भी चञ्चला, उन्हें बाँध रखनेका कोई साधन हमारे पास है नहीं।

हाँ, एक उपाय है, जिससे वह सदा ठहर सकती हैं। केवल ठहर ही नहीं सकतीं, हमारे मने करनेपर भी हमारे पीछे-पीछे डोल सकती हैं। वह उपाय है उनके पति श्रीनारायणदेवको वशमें कर भीतर-से-भीतरके गुप्त मन्दिरमें बन्द कर रखना। फिर तो अपने पतिदेवके चारु-चरण-चुम्बन करनेके लिये उन्हें नित्य आना ही पड़ेगा। हम द्वार बन्द करेंगे तब भी वह आना चाहेंगी, जबरदस्ती घरमें घुसेंगी। किसी प्रकार भी पिण्ड नहीं छोड़ेंगी। इतनी माया फैलावेंगी कि जिससे शायद हमें तंग आकर उनके स्वामीसे शिकायत करनी पड़ेगी। जब वे कहेंगे तब मायाका विस्तार बन्द होगा। तब भी देवीजी जायँगी नहीं, छिपकर रहेंगी। पतिको छोड़कर जायँ भी कहाँ? चञ्चला तो बहुत हैं परन्तु हैं परम पतिव्रता-शिरोमणि। स्वामीके चरणोंमें तो अचल होकर ही रहती हैं। अवश्य ही फिर ये हमें तंग नहीं करेंगी। श्रीके रूपमें सदा निवास करेंगी।

अच्छा तो अब इन लक्ष्मीदेवीजीके स्वामी श्रीनारायणदेवको वश करनेका क्या उपाय है? उपाय है किसी नयी वस्तुका

संग्रह करना। दीवालीपर लक्ष्मीमाताकी प्रसन्नताके लिये हम नयी चीजें तो खरीदते हैं परन्तु खरीदते ऐसी हैं जो कुछ काल बाद ही पुरानी हो जाती हैं। श्रीनारायणदेव ऐसी क्षणभंगुर वस्तुओंसे वश नहीं होते। उनके लिये तो वह अपार्थिव पदार्थ चाहिये जो कभी पुराना न हो, नित्य नूतन ही बना रहे। वह पदार्थ है 'विशुद्ध और अनन्य प्रेम।' इस प्रेमसे परमात्मा नारायण तुरन्त वशमें हो जाते हैं। जहाँ नारायण वशमें होकर पधारे कि फिर हमारे सारे घरमें परम प्रकाश आप-से आप छा जायगा। क्योंकि सम्पूर्ण दिव्यातिदिव्य प्रकाशका अगाध समुद्र उनके अन्दर भरा हुआ है। हम टिमटिमाते हुए दीपकोंकी ज्योतिके प्रकाशमें लक्ष्मीदेवीको बुलाते हैं, बहुत करते हैं तो आजकलकी बिजलीकी रोशनी कर देते हैं, परन्तु यह प्रकाश कितनी देरका है? और है भी सूर्यके सामने जुगनूकी तरह दो कौड़ीका। श्रीनारायणदेव तो प्रकाशके अधिष्ठान हैं। सूर्य उन्हींसे प्रकाश पाते हैं। चन्द्रमामें चाँदनी उन्हींसे आती है, अग्निको प्रभा उन्हींसे मिलती है। यह बात मैं नहीं कहता, शास्त्र कहते हैं और भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे भी पुकारकर कहते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
(गीता १५ । १२)

जब समस्त जगत्की घोर अमावस्याका नाश करनेवाले भगवान् भास्कर, सुधावृष्टिसे संसारका पोषण करनेवाले चन्द्रदेव और जगत्के आधार अग्निदेवता उन्हींके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं—इन तीनोंका त्रिविध प्रकाश उन्हींके प्रकाशाम्बुधिका एक क्षुद्र कण है। तब जहाँ वह स्वयं आ जायँ, वहाँके प्रकाशका तो ठिकाना ही क्या ? उनका वह प्रकाश केवल यहींतक परिमित नहीं है। ब्रह्माकी जगत्-उत्पादनी बुद्धिमें उन्हींके प्रकाशकी झलक है। शिवकी संहार-मूर्तिमें भी उन्हींके प्रकाशका प्रचण्ड रूप है। ज्ञानी मुनियोंके हृदय भी उसी आलोक-कणसे आलोकित हैं। जगत्के समस्त कार्य, मन बुद्धिकी समस्त क्रियाएँ उसी नित्य प्रकाशके सहारे चल रही हैं।

अतएव पहले काम, क्रोध, लोभ-रूप कूड़ेको निकालकर घर साफ कीजिये, फिर दैवीसम्पत्तिकी सुन्दर सामग्रियोंसे उसे सजाइये, तदनन्तर प्रेमरूपी नित्य नवीन वस्तुका संग्रह कीजिये और उससे लक्ष्मीपति श्रीनारायणदेवको वशाकर हृदयके गँभीर

अन्तस्तलमें विराजित कीजिये, फिर देखिये—महालक्ष्मीदेवी और अखण्ड अपार आलोकराशि स्वयमेव चली आवेंगी ! देवीका अलग आवाहन करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी ।

हाँ, एक यह बात आप और पूछ सकते हैं कि श्रीनारायण-को वशमें कर देनेवाला वह प्रेम कहाँ, किस बाजारमें मिलता है ? इसका उत्तर यह है कि वह किसी बाजारमें नहीं मिलता—'*प्रेम न बाड़ी नीपजे, प्रेम न हाट बिकाय* ।' उसका भण्डार तो आपके अन्दर ही है । ताला लगा है तो उसे खोल लीजिये, खोलनेका उपाय—चाभी श्रीभगवन्नाम-चिन्तन है । प्रेमका कुछ अंश बाहर भी है परन्तु वह जगत्के जड़-पदार्थोंमें लगा रहनेसे मलिन हो रहा है । उसका मुख श्रीनारायणकी ओर घुमा दीजिये । वह भी दिव्य हो जायगा । उसी प्रेमसे भगवान् वश होंगे । फिर लक्ष्मी-नारायण दोनोंका एक साथ पूजन कीजियेगा । इस तरह नित्य ही दीवाली बनी रहेगी । टका लगेगा न पैसा, पर काम ऐसा दिव्य बनेगा कि हम सदाके लिये सुखी—परम सुखी हो जायँगे । इसीको कहते हैं—

'सदा दिवाली सन्तके आठों पहर अनन्द'

फुरसत निकालो

अपना मन साफ करो

जाड़ेका मौसम है, दर्जी दालानकी धूपमें बैठा कपड़े सी रहा है। घरके अन्दरसे लड़केने आकर कहा—'बाबा! जाड़ा लगता है एक मिरजई तो सी दो।' दर्जीने कहा—'बेटा! अभी तो धूप निकली है। थोड़ा गरमा ले—आज फुरसत मिली तो सी दूँगा।' लड़का कुछ देर वहाँ बैठा, फिर उसने कहा—'बाबा! आज जरूर सी देना।' दर्जी दो नये गाहकोंसे बात कर रहा था, उसने कुछ उत्तर नहीं दिया, लड़का घरके अन्दर चला गया। दूसरे दिन सवेरे ही लड़केकी माँने कहा—'रामूके बाबा! लड़का कितने दिनोंसे जाड़े मरता और रोता है। तुम्हें इसके लिये एक मिरजई सी देने तककी फुरसत नहीं मिली। मुझे कपड़ा ला दो तो मैं ही सी दूँ।' दर्जीने कहा—'तू कहती है सो तो ठीक है, पर बता, मैं कब सीऊँ? जाड़ा शुरू हुआ है,

गाँहक दिन-रात तकाज़ा करते हैं, मुझे तो उनके कपड़े सीनेमें ही फुरसत नहीं मिलती। देखती नहीं मैं खुद दिन-रात नंगे बदन रहता हूँ। क्या मुझे सर्दी नहीं लगती? फुरसत मिले तब न बाजार जाकर कपड़ा लाऊँ।' 'कपड़ा किसीसे मँगवा लो, इतने गाँहक आते हैं उनमेंसे किसीसे कह दो, ला देगा' रामूकी माने ऐसा कहा।

दर्ज़ी बोला, कपड़ा कोई ला देगा तब भी क्या होगा? अभी मेरे पास गाँहकोंके इतने कपड़े सीने पड़े हैं कि तुम और मैं दोनों लगातार कई दिनों तक बैठेंगे तब कहीं काम सपरेगा। बीचमें और काम आ गया तो वह भी नहीं। दर्ज़िन बोली, तुम्हारा काम तो पूरा होनेका नहीं, दूसरोंके कपड़े सीते-सीते जाड़ा निकल जायगा, भगवान् न करे कहीं जाड़ेसे लड़केको या तुमको जड़ैया-बुखार हो गयी तो बड़ी मुसीबत होगी, फिर मेरी क्या गति होगी? दर्ज़ीने रुखाईसे कहा, क्या किया जाय अभी तो फुरसत नहीं है।

जगत्में यही हाल परोपदेशकोंका है, उन्हें परोपदेशमें ही फुरसत नहीं मिलती (दर्ज़ी दूसरोंके कपड़े तो सीता है परन्तु ये तो प्रायः अपना सारा वक्त यों ही बरबाद करते हैं।) परन्तु एक

दिन ऐसी फुरसत मिलेगी कि फिर कोई भी रुकावट काम नहीं आवेगी । इन बेचारोंकी तो बात ही कौन-सी है ? No time का बोर्ड लटकाकर रखनेवाले और 'क्या करें मरनेकी भी फुरसत नहीं मिलती' रटनेवाले, सबको उसी श्मशानकी धूलमें जाकर लोटनेके लिये पूरी फुरसत आप ही मिल जायगी ।

इसलिये पहलेसे ही फुरसत निकाल लो तो बुद्धिमानी है । फुरसत कहींसे बुलायी नहीं आती । निकालनी पड़ती है । कोरे रह जाओगे तो बड़ी मुसीबत होगी । दूसरेका उद्धार करनेके कामसे ज़रा फुरसत निकालकर, देश-सेवासे जरा समय बचाकर पहले अपना उद्धार और अपनी सेवा करो, पहले अपने पापोंको धो लो तभी देश-सेवाके और विश्व-सेवाके लायक बनोगे ! सावधान !

तेरे भावैं जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठिकै अपनो भवन बुहार॥
जग-अघ-धोवत जुग गये धुल्यो न मनको मैल।
मन-मल पहले धोइले नतरु मैलको मैल॥

पहिले अपनी ओर देखो !

'जो राग-द्वेष-रहित होता है उसे गुण-दोष दोनों दीखते हैं, यदि ऐसा पुरुष किसीके दोषोंकी आलोचना करे और उसको दोषमुक्त करनेके लिये आवश्यकतानुसार कर्तव्यवश कड़े-से-कड़ा व्यवहार करे तो भी कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध होनेके कारण उसका ज्ञान घृणा, द्वेष, क्रोध या हिंसासे ढक नहीं जाता, वह यदि एक दोषकी बहुत कड़ी समालोचना करता है तो दूसरे गुणकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा भी करता है। केवल दूसरेके दोषोंको ही देखनेवाले द्वेषी लोग ऐसा नहीं कर सकते।'

'किसीके भी पापकी आलोचना करनेके साथ अपने हृदयको बड़ी सावधानीके साथ देखते रहो। उसमें कहीं द्वेष, क्रोध या हिंसाको तो स्थान नहीं मिल गया है, कहीं दूसरेको पापमुक्त करने जाकर स्वयं तो पापोंको आश्रय न दे चुके हो। यदि इस प्रकार पद-पदपर आत्मनिरीक्षण करते हुए दूसरेके पापोंकी आलोचनाकर उसे पापोंसे छुड़ाना चाहो तो अवश्य तुम वैसा कर सकते हो।'

'किसीके साथ घृणा, द्वेष, क्रोध या हिंसा न करके तुम उसपर कोई एहसान नहीं कर रहे हो। इसमें तुम केवल अपना ही भला करते हो। यदि ये दोष तुम्हारे हृदयमें आ जाते तो न मालूम उसका तो बिगाड़ होता या नहीं, पर तुम्हारा बिगाड़ तो अवश्य ही हो जाता।'

पाप आसक्तिसे होते हैं, आसक्ति विषयोंकी रमणीयताके ज्ञानसे होती है, यह ज्ञान ही अज्ञान है, इसीके द्वारा बुद्धि ढकी रहनेसे मनमें बुरे संस्कारोंको स्थान मिलता है। यह अज्ञान कुछ थोड़े-से महापुरुषोंको छोड़कर प्रायः सबमें रहता है। किसीमें अधिक तो किसीमें थोड़ा, इसलिये किसीसे भी घृणा न करो। अपनी ओर देखो कि तुम भी उसीके समान अज्ञानसे कभी पाप करते हो या नहीं।'

'जहाँ तक हो सके, पापीको प्रेमके साथ अच्छी राहपर लाओ। पापीसे मनमें घृणा न करो, वह बेचारा भूला हुआ है। भूला हुआ सदा दयाका पात्र होता है अतएव उसपर दया करो और सच्चे मनसे आर्त्त होकर परमात्मासे प्रार्थना करो कि वह पतितपावन उसकी पापबुद्धिका सर्वथा नाश कर दें।

सन्त और बिच्छू

(१)

विश्वपावनी वाराणसिमें सन्त एक थे करते वास।
रामचरण-तल्लीन-चित्त थे नाम-निरत नय-निपुण निराश॥
नित सुरसरिमें अवगाहन कर विश्वेश्वर-अर्चन करते।
क्षमाशील पर-दुख-कातर थे नहीं किसीसे थे डरते॥

(२)

एक दिवस श्री—भागीरथिमें ब्राह्मण विदथ नहाते थे।
दयासिंधु देवकिनन्दनके गोप्य गुणोंको गाते थे॥
देखा, एक बहा जाता है वृश्चिक जल-धाराके साथ।
दीन समझकर उसे उठाया सन्त विप्रने हाथों-हाथ॥

(३)

रखकर उसे हथेलीपर निज, सन्त पोंछने लगे निशंक।
खल, कृतघ्न, पापी वृश्चिकने मारा उनके भीषण डंक॥
काँप उठा तत्काल हाथ, गिर पड़ा अधम वह जलके बीच।
लगा डूबने अथाह जलमें निज करनी वस निष्ठुर नीच॥

(४)

देखा उसे मुमुर्षु, सन्तका चित करुणासे भर आया।
प्रबल वेदना भूल, उसे फिर उठा हाथपर, अपनाया॥
ज्योंहीं सँभला, चेत हुआ, फिर उसने वही डंक मारा।
हिला हाथ, गिर पड़ा, वहाने लगी उसे जलकी धारा॥

(५)

देखा पुनः सन्तने उसको जलमें बहते दीन मलीन।
लगे उठाने फिर भी उसको क्षमा-मूर्ति प्रतिहिंसा-हीन॥
नहा रहे थे लोग निकट सब बोले-'क्या करते हैं आप?
हिंसक जीव बचाना कोई धर्म नहीं, है पूरा पाप॥

(६)

चकखा हाथों-हाथ विषम फल तब भी करते हैं फिर भूल।
धर्म देशको डुबा चुका भारत इस कायरताके कूल॥'

'भाई ! क्षमा नहीं कायरता, यह तो वीरोंका बाना।
स्वल्प महापुरुषोंने इसका है सच्चा स्वरूप जाना॥

(७)

कभी न डूबा क्षमा-धर्मसे भारतका वह सच्चा धर्म।
डूबा, जब भ्रमसे था इसने पहना कायरताका वर्म॥
भक्तराज प्रह्लाद क्षमाके परम मनोहर थे आदर्श।
जिनसे धर्म बचा था जो खुद जीत चुके थे हर्षामर्ष॥'

(८)

बोले जब हँसकर यों ब्राह्मण, कहने लगे दूसरे लोग—
'आप जानते हैं तो करिये हमें बुरा लगता यह योग॥'
कहा सन्तने 'भाई ! मैंने बड़ा काम कुछ किया नहीं।
स्वभाव अपना बरता इसने मैंने, भी तो किया वही॥

(९)

मेरी प्रकृति बचानेकी है, इसकी डंक मारनेकी।
मेरी इसे हरानेकी है, इसकी सदा हारनेकी॥
क्या इस हिंसकके बदलेमें मैं भी हिंसक बन जाऊँ?
क्या अपना कर्तव्य भूलकर प्रतिहिंसामें सन जाऊँ॥

(१०)

जितनी बार डंक मारेगा उतनी बार बचाऊँगा।
आखिर अपने क्षमा-धर्मसे निश्चय इसे हराऊँगा' ॥
सन्तोंके दर्शन स्पर्शन भाषण अमोघ जगतीतलमें।
वृश्चिक छूट गया पापोंसे सन्त-मिलनसे उस पलमें ॥

(११)

खुले ज्ञानके द्वार जन्म-जन्मान्तरकी स्मृति हो आई।
छूटा दुष्टस्वभाव सरलता शुचिता सब उसमें छाई ॥
सन्त-चरणमें लिपट गया वह करनेको निज पावन तन।
छूट गया भव-व्याधि-विषमसे हुआ रुचिर वह भी हरिजन ॥

(१२)

जब हिंसक जड़ जन्तु क्षमासे हो सकते हैं साधु सुजान।
हो सकते क्यों नहीं मनुज जो माने जाते हैं सज्ञान?
पढ़कर वृश्चिक और सन्तका यह रुचिकर सुखकर संवाद।
अच्छा लगे मानिये, तज प्रतिहिंसा, हिंसा, वैर, विवाद ॥

संसार-नाटक

अनोखा अभिनय यह संसार!
रंगमंचपर होता नित नटवर-इच्छित व्यापार ॥ १ ॥

कोई है सुत सजा किसीने धरा पिताका साज।
कोई स्नेहमयी जननी बन करता नटका काज ॥ २ ॥

कोई सज पत्नी, पति कोई, करें प्रेमकी बात।
कोई सुहृद बना, वैरी बन, कोई करता घात ॥ ३ ॥

कोई राजा, रंक बना, कोई कायर, अति शूर।
कोई अति दयालु बनता, कोई हिंसक अति क्रूर ॥ ४ ॥

कोई ब्राह्मण, शूद्र, श्वपच है कोई सजता मूढ़।
पण्डित परम, स्वांग धर कोई करता बातें गूढ़ ॥ ५ ॥

कोई रोता, हँसता कोई, कोई हो गम्भीर।
कोई कातर बन कराहता, कोई धरता धीर ॥ ६ ॥

रहते सभी स्वांग अपनेके सभी भाँति अनुकूल।
होती नाश पात्रता जो किंचित् करता प्रतिकूल ॥ ७ ॥

मनमें सभी समझते हैं अपना सच्चा सम्बन्ध।
इसीलिये आसक्ति नहीं कर सकती उनको अन्ध ॥ ८ ॥

किसी वस्तुमें नहीं मानते कुछ भी अपना भाव।
रंगमंचपर किन्तु दिखाते तत्परतासे दाव ॥ ९ ॥

इसी तरह जगमें सब खेलें, खेल सभी अविकार।
मायापति नटवरके शुभ अद्भुत इङ्गित-अनुसार ॥ १० ॥

तुम आगे आते !

ज्यों-ज्यों मैं पीछे हटता हूँ त्यों-त्यों तुम आगे आते।
छिपे हुए पर्दोंमें अपना मोहन मुखड़ा दिखलाते॥

पर मैं अन्धा ! नहीं देखता पर्दोंके अन्दरकी चीज़।
मोहमुग्ध ! देखा करता पर्दे बहुरंगे मैं नाचीज़॥

पर्दोंके अन्दरसे तुम हँसते प्यारी मधुरी हाँसी।
मेरा ध्यान खींचनेको तुम बजा रहे मीठी बाँसी॥

सुनता हूँ, मोहित होना, दर्शनकी भी इच्छा करता।
पाता नहीं देख, पर, जड़मति ! इधर-उधर मारा फिरता॥

तरह-तरहसे चित्त खींचते करते त्रिविध भाँति संकेत।
चौकन्ना-सा रह जाता हूँ, नहीं समझता मूर्ख अचेत॥

तो भी नहीं ऊबते हो तुम, पर्दा ज़रा उठाते हो।
धीरेसे सम्बोधन करके अपने निकट बुलाते हो॥

इतनेपर भी नहीं देखता सिंह-गर्जना तब करते।
तन-मन-प्राण काँप उठते हैं नहीं धीर कोई धरते॥

डरता, भाग छूटता, तब आश्वासन देकर समझाते।
ज्यों-ज्यों मैं पीछे हटता हूँ त्यों-त्यों तुम आगे आते॥

प्रार्थना

हे नाथ! तुम्हीं सबके स्वामी तुम ही सबके रखवारे हो।
तुम ही सब जगमें व्याप रहे, विभु! रूप अनेकों धारे हो॥
तुम ही नभ जल थल अग्नि तुम्हीं, तुम सूरज चाँद सितारे हो।
यह सभी चराचर है तुममें, तुम ही सबके ध्रुव-तारे हो॥

हम महामूढ़ अज्ञानी जन, प्रभु! भवसागरमें पूर रहे।
नहिं नेक तुम्हारी भक्ति करें, मन मलिन विषयमें चूर रहे॥
सत्संगतिमें नहिं जायँ कभी, खल-संगतिमें भरपूर रहे।
सहते दारुण दुख दिवस-रैन, हम सच्चे सुखसे दूर रहे॥

तुम दीनबन्धु जगपावन हो, हम दीन पतित अति भारी हैं।
है नहीं जगतमें ठौर कहीं, हम आये शरण तुम्हारी हैं॥
हम पड़े तुम्हारे हैं दरपर, तुमपर तन मन धन वारी हैं।
अब कष्ट हरो हरि, हे हमरे, हम निंदित निपट दुखारी हैं॥

इस टूटी फूटी नैयाको, भवसागरसे खेना होगा।
फिर निज हाथोंसे नाथ! उठाकर, पास बिठा लेना होगा॥
हो अशरण-शरण अनाथ-नाथ, अब तो आश्रय देना होगा।
हमको निज चरणोंका निश्चित, नित दास बना लेना होगा॥

कामना

बना दो विमल-बुद्धि भगवान ॥

तर्क-जाल सारा ही हर लो, हरो कुमति-अभिमान ।
हरो मोह माया ममता मद मत्सर मिथ्या-मान ॥
कलुष काम-मति कु-मति हरो, हे हरे! हरो अज्ञान ।
दम्भ दोष दुर्नीति हरणकर करो सरलता दान ॥
भोग-योग अपवर्ग-स्वर्गकी हरो स्पृहा बलवान ।
चाकर करो चारु चरणोंका नित ही निज-जन जान ॥
भर दो हृदय भक्ति-श्रद्धासे करो प्रेमका दान ।
कभी न करो दूर सेवासे मेटो भवका भान ॥

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित और सम्पादित कुछ पुस्तकें—

विनय-पत्रिका—सरल हिन्दी-टीका-सहित पृष्ठ ४५०, चित्र ३ सुनहरी, २ रंगीन, १ सादा मू० १) सजिल्द १।)

नैवेद्य—आपके पास है।

तुलसी-दल—इसमें इतने विषय हैं कि बड़े-छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, आस्तिक-नास्तिक, विद्वान्-मूर्ख, ज्ञानी-गृहस्थी और त्यागी सब-के लिये कुछ-न-कुछ अपने मनकी बात पा सकते हैं। पृ० २६४, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≈)

भक्त-बालक—इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना जाट, चन्द्रहास और सुधन्वाकी भक्ति-रससे भरी हुई कथाएँ हैं। ५ चित्र, पृ० ८०, मू०।-)

भक्त-नारी—इसमें शबरी, मीरा, जना, करमैती और रबियाकी प्रेमभक्तिसे पूर्ण बड़ी ही रोचक कथाएँ हैं। ६ चित्र, पृ० ८०, मू० ।-)

भक्त-पञ्चरत्न—इसमें रघुनाथ, दामोदर और उसकी पत्नी, गोपाल, शान्तोबा और उसकी पत्नी और नीलाम्बरदासके परम पावन चरित्र हैं। पृ० १०४, सचित्र मूल्य ।-)

पत्र-पुष्प—(सचित्र, कविता-संग्रह) पृष्ठ-संख्या ६६, मू० ≡)॥

मानव-धर्म—इसमें धर्मके दस लक्षणोंपर अच्छा विवेचन है। मूल्य ≡)

साधन-पथ—सचित्र पृष्ठ ७२, मूल्य =)॥

स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी—नये संस्करणमें १ तिरंगा चित्र भी है। पृ० ५६, मू० ≠)

आनन्दकी लहरें—इसमें हम दूसरोंको सुख पहुँचाते हुए खुद कैसे सुखी हों, यह बताया गया है। मू० -)॥

मनको वशमें करनेके उपाय—एक विष्णुभगवान्का चित्र है। मू० -)।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यकी रक्षाके अनेक सरल उपाय बताये गये हैं। मू० -)

समाज-सुधार—समाजके जटिल प्रश्नोंपर प्रकाश डाला गया है। मू० -)

दिव्य-सन्देश—वर्तमान दाम्भिक युगमें किस उपायसे शीघ्र भगवत्-प्राप्ति हो सकती है इसमें उसके सरल उपाय बताये हैं)।

विविध गीताएँ

अन्य पुस्तकें